ओ३म्
प्रभुभक्त
दयानन्द
आचार्य

ओ३म्

प्रभुभक्त दयानन्द
और
उनके आध्यात्मिक उपदेश

लेखक :
आचार्य भद्रसेन

सम्पादक :
आचार्य सत्यानन्द 'नैष्ठिक'
एम०ए० (वेद, संस्कृत)

प्रकाशक :
सत्यधर्म प्रकाशन
गुरुकुल कंवरपुरा, गोरधनपुरा, तहसील—कोटपुतली
जयपुर (राजस्थान)—३०३११५

प्रकाशक :

सत्यधर्म प्रकाशन

गुरुकुल कंवरपुरा, गोरधनपुरा, तहसील—कोटपुतली
जयपुर (राजस्थान)—३०३११५

प्राप्ति स्थान :

१. **हरयाणा साहित्य संस्थान**
महाविद्यालय, गुरुकुल झज्जर
जिला—रोहतक (हरियाणा)

२. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९९९

मूल्य : ५०.०० रुपये

आवरण व शब्द संयोजक :
भगवती लेज़र प्रिंट्स, नई दिल्ली-६५

मुद्रक :
राधा प्रेस
कैलाश नगर, दिल्ली-११००३१

कतिपय सम्मितियाँ

१. स्वर्गीय प्रभु आश्रितजी महाराज—

श्री आचार्यजी रचित, "प्रभु-भक्त दयानन्द तथा उनके आध्यात्मिक उपदेश" पुस्तक अत्यन्त उपयोगी हैं। आर्यसमाज के क्षेत्र में ऋषि के प्रभु-भक्ति के भावों का ऐसा उत्तम संग्रह अभी तक कहीं नहीं हुआ। उनके देशोद्धारक, समाज-सुधारक आदि का तो कई विद्वानों और लेखकों ने वर्णन किया है और करते हैं, परन्तु जैसा प्रभु-भक्ति का स्वरूप और दृश्य श्री आचार्यजी ने प्रस्तुत पुस्तक में महाराज के अपने जीवन और उनके ग्रन्थों में से दर्शाया है, ऐसा अन्य किसी ने नहीं दर्शाया। वह ग्रन्थ आर्यजगत् में सब आर्यों तथा अन्य धर्मावलम्बियों के लिए भी एक अनुपम देन है।

२. श्री पूज्य आनन्द स्वामीजी महाराज—

मेरे प्यारे आचार्य भद्रसेनजी!

आपकी लिखी पुस्तक 'प्रभु-भक्त दयानन्द' निःसन्देह बहुत उत्तम ग्रन्थ है। महर्षि दयानन्द का वास्तविकरूप यही है, परन्तु इस रूप को बहुत कम प्रकट किया गया है, आपने इस त्रुटि को भली-भाँति दूर कर दिया है। यह पुस्तक सब प्रभु-भक्तों के पास पहुँचनी चाहिये।

३. आचार्यजी के साहित्य पर कुछ सम्मतियाँ—

आचार्यजी के साहित्य पर तो हमने प्रकाश डाला है। उनके साहित्य पर कुछ प्रतिष्ठित विद्वानों, साहित्यकारों, नेताओं व पत्रों की सम्मतियाँ भी यहाँ दे देना पाठकों, साहित्य-सेवियों व गवेषकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। साहित्य के इतिहास की सुरक्षा के लिए भी ऐसा करना आवश्यक है।

४. प्रभुभक्त दयानन्द और उनके आध्यात्मिक उपदेश के सम्बन्ध में

सार्वदेशिक सभा के एक पूर्वप्रधान तथा सिद्धहस्त लेखक व पत्रकार श्री पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति जी ने लिखा—

"आपने महर्षि के उपदेशों का सरल और सुलभ संग्रह

प्रकाशित करके आर्यजनता की महती सेवा की है। आपकी पुस्तक स्वाध्याय के लिए बहुत उपयुक्त होगी। संग्रह बहुत उत्तम है, और आपकी भाषा सर्वसाधारण के लिए बहुत उपयोगी है।''

५. 'वैदिक विनय' के लेखक श्रीमान् देवशर्मा—

ऋषि दयानन्द की जिस महत्ता की तरफ सबसे अधिक ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है, परन्तु दुर्भाग्यवश जिसकी तरफ अब तक पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है, उसकी महत्ता को अर्थात् ऋषि की प्रभुभक्ति को प्रतिपादित करनेवाली यह छोटी-सी सुन्दर पुस्तिका है। स्वाध्यायशील, विद्वान् लेखक ने प्रभुभक्ति के दस गुण बतलाकर दिखलाया है कि ये दसों गुण ऋषि दयानन्द में कैसी अच्छी तरह हैं और कितनी उच्चकोटि में विद्यमान थे। आर्यसमाज में ऐसी पुस्तक की बहुत आवश्यकता है। पं० भद्रसेन जी ने यह पुस्तक अजमेर की निर्वाण शताब्दी के अवसर पर आध्यात्मिक भेंट के तौर पर प्रकाशित कराई है, इसके लिए हम पण्डित जी को धन्यवाद करते हैं।

६. स्वर्गीय पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु—

मेरी दृष्टि में ''प्रभु-भक्त दयानन्द और उनके आध्यात्मिक उपदेश'' पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तक में संगृहीत ऋषि के आध्यात्मिक उपदेशों को पढ़कर पाठक अपनी जीवन-सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए अनेक विध प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार होना चाहिये।

७. डॉ० प्रेमचन्द श्रीधर—आदर्श नगर, दिल्ली-३३

मुझे पूज्यपाद आचार्य भद्रसेनजी की कृति प्रभु-भक्त दयानन्द पढ़ने का अवसर मिला। पुस्तक में स्वामीजी महाराज के आध्यात्मिक उपदेश देकर आचार्य प्रवर ने समस्त आर्यजगत् का बहुत उपकार किया है। वेदमन्त्रों पर आधारित उपदेश भक्त-हृदयों को भविविभोर कर देते हैं। विशेषकर जो प्रचारक-उपदेशक महानुभाव हैं, उनके लिए यह एक उपहार का ही रूप है। विचारों का भण्डार उन्हें अपने पवित्र कार्य में विशेष सहायता देगा।

स्वामी सत्यानन्दजी नैष्ठिक ने इसका प्रकाशन करके आर्यजनों को अनुग्रहीत किया है, वे साधुवाद एवं बधाई के पात्र हैं।

८. प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'—वेद-सदन, अबोहर-१५२११६

अमृत के घूँट

'प्रभु-भक्त दयानन्द और उनके आध्यात्मिक उपदेश' अपने विषय की प्रथम व अनूठी पुस्तक है। आचार्य भद्रसेनजी ने सहस्रों ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् इस पुस्तक का सृजन किया। यह पुस्तक क्या है, अमृत के घूँट हैं। ईश्वर व वेद के लिये अखण्ड निष्ठा रखनेवाले सच्चे व पक्के ऋषिभक्त आचार्य भद्रसेनजी ने ऋषि के वेदभाष्य आदि बड़े-छोटे ग्रन्थों व ऋषि-जीवन के आर-पार जाकर मोतियों की मणिमाला पिरोकर प्रभुभक्तों को भेंट कर दी। अनेक सन्त-महात्माओं के वचनों को उद्धृत करके आचार्यजी ने पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ा दिया है।

ऋषि के व्यक्तित्व व मन्तव्यों को समझने के लिये इस पुस्तक का पारायण अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। इस पुस्तक का सब आर्यों को पाठ करना चाहिये। समाज-मन्दिरों में इसकी कथायें होनी चाहिये।

९. महात्मा आनन्द भिक्षुजी महाराज—

मैंने "प्रभु-भक्त दयानन्द और उनके आध्यात्मिक उपदेश" पुस्तक को स्वयं पढ़कर यह अनुभव किया है कि इस महान् कार्य को कोई अनुभवी तपोनिष्ठ स्वाध्यायशील विद्वान् ही कर सकता है। यही मेरा विचार इस पुस्तक के सम्बन्ध में भी है। अतः मैं आचार्य भद्रसेनजी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। जिन्होंने कि इस अपूर्व रचना को रचकर ऋषि दयानन्द के वास्तविक स्वरूप को जनता के सम्मुख रखा है। विलास प्रिय वर्तमान युग में आध्यात्मिकता बहुत कम रह गयी है और जब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया जायेगा, तब राष्ट्र तथा समाज का कल्याण नहीं हो सकता। श्री आचार्यजी ने इस पुस्तक को लिखकर सफल प्रयत्न किया है। इसके लिये आध्यात्मिक समाज श्री आचार्यजी का अत्यन्त आभारी है।

अध्यात्म-प्रेमी प्रत्येक व्यक्ति को इस पुस्तक से अवश्य लाभ उठाना चाहिये तथा इस दुर्लभ मानव-जीवन के धर्मार्थ-काममोक्ष की प्राप्ति में यत्नशील होना चाहिये।

मेरा यह दृढ-विश्वास है कि ऋषि दयानन्द न केवल समाज-सुधारक ही थे, प्रत्युत प्रभु के अनन्य भक्त, पूर्ण योगी तथा सन्त शिरोमणि भी थे। "प्रभु-भक्त दयानन्द और उनके आध्यात्मिक

उपदेश'' पुस्तक को पढ़कर मुझे जो प्रसन्नता हुई है, उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। श्री आचार्यजी ने इस पुस्तक को रचकर गागर में सागर भर दिया है।

इसके लिये मैं आचार्यजी को अनेशः धन्यवाद देता हूँ। प्रत्येक आर्य को इस अपूर्व तथा सुन्दर पुस्तक का अवश्य स्वाध्याय करना चाहिये।

१०. वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार विजेता 'वेदार्थ कल्पद्रुम-प्रणेता' आचार्य डॉ० विशुद्धानन्द द्वारा

— प्रशस्ति-रसायनम् —

श्रीमन्महर्षि प्रभुभक्ति रसामृतेन,
स्वात्यम्बुदस्य भरितस्य च विप्रुषां वै।
धाराभिराशमयदेष निजामुदन्याम्,
आकण्ठ मग्न इह चातकभद्रसेनः ॥ १ ॥

श्रीमान्महर्षि दयानन्द सरस्वती के समाधिजन्य रसामृत से परिपूर्ण मानस में उमड़े स्वाति नक्षत्र के वारिद-बिन्दुओं से बनी धाराओं से आकण्ठ मग्न हो चातक आचार्य भद्रसेन ने अपनी प्रबल प्यास को शमन किया॥ १ ॥

स्वात्यम्बु-पान-रसि-चातकपोतकोऽयम्,
'पीयू' रटन्न वरतप्रिय चिन्तमग्नः।
वर्षोन्मुखः परिणतः स्वयमब्दरूपे,
आचार्य एष सुतरामति विस्मयो मे॥ २॥

स्वाति बिन्दु पान में रसिक पद चातक 'पीयू-पीयू' की रट लगाते हुए प्रियवर के ध्यान में इतना मग्न हुआ कि स्वयं ही वर्षोन्मुख बादल के रूप में परिणत हो गया है, इस पर मुझे अति विस्मय है॥ २॥

आनन्दयन् स्वदयया प्रभुभक्त एषः,
आध्यात्मिकीं रससुधामुपदेशनेषु।
आवर्षदाशु चयनं हि विधाय तेषाम्,
आचार्यवर्य-शुचिमानपि-भद्रसेनः ॥ ३ ॥

अपनी दया से विश्व को आनन्दित करने वाले प्रभुभक्त दयानन्द ने अपने उपदेशों में जो आनन्दमयी रसामृत की वर्षा की है, उसका संचयन करके पवित्र-मानस आचार्य भद्रसेन जी ने पुनरपि इस ग्रन्थ द्वारा वृष्टि की है ॥ ३ ॥

पित्रा प्रवाहित-रसामृत-जाह्नवीज-
कुल्याभिराशमयितुं मनुजामुदन्याम्।
विश्वेऽपि सोमरस तृप्तसुताः सुवीराः,
देवान् सुवेद-सुधया परितर्पयन्ति ॥ ४ ॥

पूज्य पिता श्री आचार्य भद्रसेनजी के द्वारा प्रवाहित रसामृत की गंगा की नहरों के द्वारा मनुष्यों की पिपासा बुझाने के लिए सोम रस के तृप्त सभी वीर पुत्र रत्न ऋषिवर के वेदोपदेशामृत से सभी देवों का परितर्पण करते रहें ॥ ४ ॥

विशुद्धानन्दमग्नाः स्युर्निर्मलावृत्तिधारिणः ।
प्रभुभक्तिप्रसादेन पुत्ररत्नानि नित्यशः ॥ ५ ॥

मेरी शुभकामना है कि प्रभु भक्त दयानन्द के इस रसायन का पान करते हुए, आचार्यजी के सभी पुत्र रत्नं निर्मलहृदयवृत्ति को धारण कर विशुद्ध आनन्द में सदा मग्न रहा करें ॥ ५ ॥

समर्पण

जिनके आध्यात्मिक जीवन तथा सदुपदेशों से मैंने अपने जीवन के उत्थान का पावन प्रयत्न कयिा, जिनके अपार अनुग्रह और आर्थिक सहयोग से अमृतसर, काशी आदि स्थानों में अष्टाध्यायी महाभाष्यादि व्याकरण, दर्शन तथा साहित्य आदि की शिक्षा प्राप्त की, उन निर्वाणपद-प्राप्त, आर्यजगत् के प्रसिद्ध महात्मा वीतराग, परमपूज्य स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज के कर कमलों में इस ग्रन्थ को सादर समर्पित करता हूँ।

महाराज का चरण सेवक

भद्रसेन

लेखक का नम्र निवेदन

यह ध्रुव सत्य है कि जनता अपने नेता या आचार्य को जिस रूप में देखती है, स्वयं वैसा ही बनने का प्रयत्न करती है। जिसने अपने अन्तर्मन में पूजनीय नेता या गुरु का जैसा भी चित्र चित्रित कर लिया होता है, वह अपने मानसचित्र को भी वैसा ही चित्रित करने में प्रयत्नशील होता है। ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, नानक आदि के अनुयाइयों ने अपने पैग़म्बर या नेता को जैसा समझा, तदनुरूप ही उन्होंने अपने को ढ़ालने का प्रयत्न किया। यह बात पूर्ण सत्य है कि उपर्युक्त ईसा आदि के अनुयाइयों ने अपने पैग़म्बर तथा प्रवर्तक के अन्दर अन्य अनेक गुणों के होते हुए भी उनके आध्यात्मिकरूप को ही अधिक मुख्यता दी और इसी रूप को ही उन्होंने उनके जीवन-चरित्र आदि पुस्तकों में दर्शाने का प्रयत्न किया है। अपने उपदेशों तथा व्याख्यानों में भी वे अपने गुरुओं के इसी आध्यात्मिकरूप का ही बखान करने लगे। हालांकि उन्होंने इसमें अतिशयोक्तियाँ भी की हैं, परन्तु इसके विपरीत ऋषि दयानन्द के अनुयाइयों ने अपने प्रवर्तक आचार्य के समाज-सुधारक, देशोद्धारक, कुरीति निवारक आदि रूपों को तो मुख्यता दी, किन्तु उन्होंने ऋषि के आध्यात्मिकरूप को ओझल कर दिया। यही कारण है कि जहाँ अन्य धर्मावलम्बी अपने गुरुओं को, सन्त, महात्मा या पैग़म्बर आदि के रूप में देखते हैं और उन पर अगाध श्रद्धा तथा दृढ़-आस्था रखकर उनके आदेशों पर चलना अपना परम सौभाग्य समझते हैं, वहाँ ऋषि दयानन्द का अनुयायी ऋषि को केवल वाह्य सुधारक समझता है और इस वाह्यरूपक ही वह अपनी पुस्तकों तथा व्याख्यानों में वर्णन करता है। यही कारण है कि एक ऋषि के अनुयायी को ऋषि में इतनी अगाध श्रद्धा तथा दृढ़-आस्था नहीं, जितनी कि अन्य धर्मावलम्बियों को अपने-अपने गुरुओं या प्रवर्तकों पर।

धर्म का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को आत्मिक-शान्ति प्रदान करना है। इसीलिये वह किसी-न-किसी धर्म का आश्रय लेता है, किन्तु यह तभी हो सकता है, जब कि वह उस धर्म के प्रवर्तक को अपना आध्यात्मिक जन्मदाता या गुरु समझे और उनके आध्यात्मिक तथा भक्तिमय उपदेशों पर चलकर अपने जीवन को भी भक्तिमय तथा आध्यात्मिक बनाये, किन्तु ऋषि दयानन्द के अनुयाइयों ने ऋषि

को केवल समाज-सुधारक, देशोद्धारक आदि ही समझ लेने के कारण उनके आध्यात्मिक तथा भक्तिमय जीवन के अनुरूप अपने को नहीं बनाया। यही कारण है कि आज ऋषि के अनुयायी के अन्दर उस आध्यात्मिक जीवन का भास नहीं दीखता, जोकि एक सन्त, महात्मा या प्रभु-भक्त गुरु के, शिष्यों के अन्दर होना चाहिये। ऋषि के सन्त तथा भक्तिमय जीवन को ओझल करने से जहाँ हमारे जीवन श्रद्धा तथा भक्तिमय न बनकर केवल शुष्क, नीरस तर्क-प्रधान बन गये हैं, वहाँ अन्य धर्मावलम्बी भी हमारे इस केवल शुष्क तर्कमय जीवन को देखकर, ऋषि दयानन्द को भी वे वैसा ही समझने लगे हैं। अतः ऋषि का आध्यात्मिक तथा प्रभुमय जीवन जनता के सम्मुख आये, वे कितने उच्चकोटि के सन्त, महात्मा तथा प्रभु के अनन्य भक्त थे, इसका परिचय आध्यात्मिक प्रेमीजनों को मिले, मैंने यह प्रयास किया है। इस पुस्तक में जहाँ हमने ऋषि दयानन्द के प्रभु-भक्त तथा सन्तस्वरूप को पाठकों के सम्मुख रक्खा है, वहाँ उनके आत्मा को अनुपम शान्ति तथा अलौकिक आनन्द प्रदान करनेवाले आध्यात्मिक उपदेशों का भी सुन्दर संग्रह किया है। इसके लिए मुझे ऋषि के प्रायः समस्त ग्रन्थों का स्वाध्याय करना पड़ा है और ऋषि जीवन की समग्र सुन्दर-वाटिका में से उनके आध्यात्मिक सुमनों का सञ्चय कर, प्रेमी पाठकों की सेवा में भेंट किया है। आशा है आध्यात्मिक प्रेमीजन मेरी इस ऋषि प्रदत्त भेंट को सहर्ष स्वीकार करेंगे और अपने जीवनों को उसकी आध्यात्मिक सुरभि से सुरभित कर, उन्हें सुख और शान्तिमय बनाने का पूर्ण प्रयत्न करेंगे।

विषय सूची

भक्तहृदय आचार्य भद्रसेन

'प्रभुभक्त दयानन्द' के लेखक आचार्य भद्रसेन आर्यसमाजरूपी आकाश के एक ऐसे देदीप्यमान नक्षत्र थे जिनके यशः तेज से आज भी आर्यसमाज का इतिहास प्रकाशित हो रहा है। ऐसे प्रभुभक्त थे जिनकी ईश्वर के प्रति अगाध भक्ति थी। ऐसे आर्यसमाज के भक्त थे जिनका आर्यसमाज ही माता-पिता था। ऐसे राष्ट्रभक्त थे, जिनकी रग-रग में राष्ट्रप्रेम प्रवाहित था। ऐसे उपदेशक थे, जिनके प्रवचनों में वैदिक-अमृत की रसधारा बहती थी। ऐसे सिद्धहस्त लेखक थे, जिनकी कृतियों में नयापन और प्रामाणिकता का पुट था। ऐसे आचार्य थे, जिन्होंने आर्य-ग्रन्थों का गम्भीर मनन और मन्थन किया था। ऐसे तपस्वी थे, जिन्होंने तपस्या की अग्नि में मन के सभी दुराशयों को भस्म कर डाला था। ऐसे साधक थे, जो पङ्किल संसार रहते हुए भी कमल के समान निर्लिप्त बने रहे। ऐसे स्नेही पिता थे, जिन्होंने अपनी सन्तानों को सुसंस्कारी बनाने में धन से अधिक धर्म को महत्त्व दिया और अपने सारे सुखों को उनके लिए न्यौछावर कर दिया।

आर्यसमाज के इस भक्तहृदय विद्वान् का जीवन क्या है, एक संघर्ष की कहानी है, जिसने अपने ज़ीवनरूपी महल का निर्माण स्वयं अपने हाथों से किया। नियति के क्रूर आघात उसकी ईंटों को ढहाते रहे और वे उन ईंटों को फिर-फिर लगाते रहे। अन्ततः नियति हार गयी, पुरुषार्थ जीत गया। जीवनरूपी भव्य महल का निर्माण होकर ही रहा।

आर्यसमाज के इस संघर्ष पुरुष आचार्य भद्रसेन का जन्म पंजाब के जिला लायलपुर के टोबा टेकसिंह क्षेत्र सन् १९०१ में हुआ था। इनका बचपन का नाम 'रैमलदास' रखा गया। रैमलदास ने अभी होश भी नहीं सम्भाला कि बचपन में ही पहले माता का और फिर पिता का देहान्त हो गया। बालक अनाथ और असहाय हो गया, क्योंकि भाई-बहन, चाचा-ताऊ, दादा-दादी आदि कोई भी परिजन नहीं था। तब बूआ ने इसको आश्रय दिया। बूआ के यहाँ रहते हुए रैमलदास का सम्पर्क कुछ आर्यजनों से हुआ। उनके संग से उनमें आर्यसंस्कार उत्पन्न हुए और आर्ष पाठविधि से पढ़ने की धुन लगी। एक दिन इसी धुन में जब परिवार के सभी सदस्य सो गये, तो मौका पाकर घर से निकल पड़े और आर्यसमाज की शिक्षा संस्थाओं में पहुँच गये। छह वर्ष तक अपना कोई समाचार नहीं दिया। छह वर्ष पश्चात् घरवालों को कुशलक्षेम की सूचना दी। दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय लाहौर में संस्कृत-हिन्दी सीखी। फिर साधु आश्रम हरदुआगंज (पंजाब) में

स्वामी सर्वदानन्द जी के यहाँ पं० ब्रह्मदत्त जैसे उद्‌भट्ट विद्वान् से आर्ष-ग्रन्थों का अध्ययन किया। अनाथ बच्चे का कोई आर्थिक प्रबन्ध था नहीं, इसलिए वे पढ़े भी और साथ-साथ संस्था के श्रमकार्य भी किये। अब वे रैमलदास से भद्रसेन बन गये थे.........आचार्य भद्रसेन। यों समझिए कि सोना आग में तपकर कुन्दन बन गया था।

आर्ष पाठविधि का विद्वान् बनने के उपरान्त आचार्य भद्रसेन ने पूना के निकट कैवल्यधाम योगाश्रम लोणावाला में रहकर योगशिक्षा प्राप्त की। इनकी योग्यता को देखकर योगगुरु स्वामी कुवलयानन्द ने इन्हें आश्रम का उत्तराधिकारी बनने का प्रस्ताव किया, किन्तु इन्होंने उस गद्दी को ठुकरा दिया, क्योंकि इनके हृदय में तो आर्यसमाज की तड़प थी, ऋषि दयानन्द के सपनों को साकार करने की लग्न थी।

इस प्रकार पूर्ण शिक्षित होकर आचार्य भद्रसेन कार्यक्षेत्र में उतर पड़े। अजमेर को केन्द्र बनाकर प्रमुखतः राजस्थान को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। साधनों का, धन का अभाव होते हुए भी अजमेर में 'विरजानन्द वेदविद्यालय' और 'दयानन्द वेदपीठ' जैसी संस्थाओं की स्थापना की और आर्ष-ग्रन्थों के अध्यापन तथा आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में जी-जान से जुट गये। आपकी संस्कृत-सेवाओं से प्रभावित होकर राजस्थान सरकार ने आपको पेंशन देकर सम्मानित किया और योग-सेवाओं के लिए भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने सम्मानित किया।

आपकी विद्वत्ता और वक्तृता के कारण आपका यश पूरे भारत में फैल गया। आपके भाषण-प्रवचन देश के कोने-कोने में होने लगे। साथ ही आपकी लेखनी भी निरन्तर चलती रहती थी। उस समय आर्यसमाज की दर्जनों पत्र-पत्रिकाएँ निकलती थीं। सभी में आपके लेख पढ़ने को मिलते थे। इनके अतिरिक्त 'दैनिक हिन्दुस्तान' में भी आपके लेख प्रकाशित होते थे। आपने अनेक पुस्तकें भी लिखीं। 'प्रभुभक्त दयानन्द', 'आदर्श गृहस्थ जीवन', 'योग-स्वास्थ्य', 'आर्य सत्संग गुटका', 'हम आर्य हैं', 'आदर्श परिवार', 'प्राणायाम', 'आदर्श की ओर' आपकी मौलिक कृतियाँ हैं, जो सभी प्रशंसनीय हैं। इनमें भी 'प्रभुभक्त दयानंद' ने आपको पर्याप्त यश दिया। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, महात्मा आनन्द स्वामी, महात्मा आनन्द भिक्षु, महात्मा प्रभु आश्रित, पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, श्री देवशर्मा अभय जैसे संन्यासियों और विद्वानों ने इस पुस्तक की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। आपकी इस अनूठी पुस्तक को पढ़कर भर्तृहरि की निम्न पङ्क्तियाँ सार्थक हो उठती हैं—

जयन्ति ते सुकृतिनः, रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति तेषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥ —नीतिशतक, २४

'जो रससिद्ध, सिद्धहस्त लेखक हैं, वे पुण्यशाली जन सदा विजयी रहते हैं। उनके यशरूपी शरीर को न बुढ़ापे का भय है, न मृत्यु का। वे तो सदा के लिए अमर हो जाते हैं।' आचार्य भद्रसेन भी अपनी कृतियों से अमर हो गये हैं।

आचार्य भद्रसेन में ऋषि दयानन्द की दृढ़ आस्था, पं० लेखराम की लग्न, पं० गुरुदत्त का श्रम, स्वामी श्रद्धानन्द की उमङ्ग कूट-कूट कर भरी हुई थी। कभी डरे नहीं,कभी घबराये नहीं, कभी अन्याय के आगे झुके नहीं, कभी आर्यसमाज का अपमान सहन किया नहीं। प्राणों की आहुति देकर भी वे आर्यसमाज का ऋण उतारने के लिए सन्नद्ध रहते थे। स्वामी श्रद्धानन्द ने जब शुद्धि आन्दोलन प्रारम्भ किया तो वे तन-मन से उसमें कूद पड़े। हैदराबाद सत्याग्रह प्रारम्भ होने पर उन्होंने उसके लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। आर्यसमाज के लक्ष्यों और उद्देश्यों को वे सफल देखना चाहते थे। जाति-पाँति की भावना को वे समूल नष्ट करना चाहते थे। इसे वे भारतीय समाज और राष्ट्र दोनों के लिए अभिशाप मानते थे। इस सामाजिक बुराई को मिटाने के लिए उन्होंने 'आर्य परिवार संघ' की स्थापना की और इस भावना को त्यागने के लिए अनेक जनों को प्रेरित किया। स्वयं भी उन्होंने जाति-पाँति तोड़कर सोजत-निवासी वैद्य रघुनाथ आर्य की पुत्री सौभाग्यवती से विवाह किया। आपका गृहस्थ एक आदर्श गृहस्थ था। आपने पति और पिता के कर्त्तव्यों का समर्पित भाव से पालन किया, स्वयं कष्ट उठाये, किन्तु परिवार के किसी सदस्य को कष्ट नहीं होने दिया। आपने सभी सन्तानों को सुयोग्य एवं सुसंस्कारी बनाया, जो आज आपकी कीर्ति की निशानियाँ हैं। आपकी सुयोग्य सन्तानों में उर्मिला और उज्ज्वला दो पुत्रियाँ हैं तथा वेदरत्न, देवरत्न, वीररत्न, विश्वरत्न और सोमरत्न ये पाँच वस्तुतः रत्नरूप यशस्वी पुत्र हैं। अपने पिता के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए ये सभी सन्तानें आर्यसमाज के लिए समर्पित हैं।

और फिर एक दिन वह भी आया जब २७ जनवरी १९७५ को आर्यसमाज का यह तपःपूत सपूत इस संसार से सदा-सदा के लिए विदा हो गया। आज उनकी रचनाएँ, उनके कार्य हमें उनकी याद दिलाते हैं और दिलाते रहेंगे। आर्यसमाज के इतिहास में उनका नाम सदा स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। इस भद्रपुरुष को प्रकाशक की ओर से शतशः श्रद्धाञ्जलि।

आचार्य सत्यानन्द 'नैष्ठिक'
प्रकाशक

प्राक्कथन

आचार्य भद्रसेन जी लिखित 'प्रभुभक्त दयानन्द और उनके आध्यात्मिक उपदेश' पुस्तक आर्यसमाजिक साहित्य में अपने विषय की बेजोड़ कृति है। इस मौलिक पुस्तक का प्रचार प्रसार जितना होना चाहिये था, नहीं हुआ। इसके लिये आर्यसमाज की सब सभायें दोषी हैं। यह अपने त्रिषय की प्रथम पुस्तक है। कैसी थी वह शुभ घड़ी जब भक्त-हृदय आचार्य भद्रसेन जी के मन में इस ज्ञान गगरिया की रचना का विचार जागा। पुस्तकें लिखने का चाव तो अनेक लोगों को होता है, परन्तु लिखना तो सब नहीं जानते।

आचार्य भद्रेसन जी ने वैदिक साहित्य के गहन अध्ययन और ऋषिकृत ग्रन्थों एवं ऋषि जीवन के आरपार जाकर इस पुस्तक को लिखा। इससे बड़ी बात तो यह थी कि वे एक योगी थे। न तो नाम नाम के आचार्य थे और न ही योगेश्वर नामधारी थोथेश्वर थे। उन्होंने एक लम्बे समय तक कैवल्यधाम लोनावला में श्री स्वामी कुवल्यानन्द जी से योगविद्या प्राप्त करके, महर्षि की बलिदान शताब्दी पर अपना जीवन ऋषि-मिशन के अर्पण कर दिया।

वैसे तो यौवन आते ही जब गृह-त्याग करके सद्ज्ञान की खोज व संस्कृत के अध्ययन के लिये निकले थे, उस समय वैदिकधर्म प्रचार का व्रत धार लिया था। उनका लक्ष्य मात्र ज्ञान-प्राप्ति नहीं था। उनकी प्रवृत्ति एक धर्मात्मा आर्य पटवारी श्री दीवानचन्द जी के सत्संग से आध्यात्मिक बन चुकी थी। उन दिनों आर्यसमाजी प्रभातफेरियों व नगर कीर्तनों में झूम-झूमकर गाया करते थे।

'परिव्राजकाचार्य स्वामी दयानन्द,
पधारा है परलोक डंके बजाता।'

यह आर्यों का आदर्श था। भंद्रसेन (तब रैमलदास) ऋषि के इस अनूप रूप पर मोहित होकर घरबार का त्याग करने को उद्यत हुए। इसीके लिये भद्रसेन जी ने करोड़ों की गद्दी का परित्याग कर दिया। यह कोई साधारण सी घटना तो थी नहीं।

ऋषि दयानन्द के जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे ऋषि थे, वेदवेत्ता थे और दार्शनिक थे। आर्यसमाज में

दुर्भाग्य से ऐसे तत्त्वों का बोलबाला हो गया जिन्होंने ऋषि को एक सुधारक के रूप में, शिक्षा प्रसारक के रूप में, कुरीति निवारक के रूप में प्रस्तुत किया।

ईश्वर के स्वरूप, ईश्वर की भक्ति, उपासक के गुण और भक्ति का प्रयोजन व फल पर आचार्य जी ने ऋषि के ग्रन्थों, ऋषि के जीवन व वेदभाष्य से बड़े हृदयस्पर्शी प्रमाण व दृष्टान्त दिये हैं। पुस्तक के साथ ऋषि की 'सुक्ति-सुधा' को जोड़कर बहुत उपकार किया है।

अब तो लोग यह भी नहीं जानते कि इस पुस्तक का प्रथम संस्करण महर्षि की बलिदान अर्ध शताब्दी पर प्रकाशित हुआ था। उस समय इसके केवल १०० पृष्ठ थे और मूल्य केवल आठ आने (आज के पचास पैसे) था। आर्यसमाजियों की रुचि स्कूलों संस्थाओं में रही, अतः इस अनूठी पुस्तक का प्रचार न हुआ। यदि इसके प्रसार में विशेष उद्योग किया जाता तो आज जड़पूजा, पीरपूजा, मुर्दों की पूजा, कबरों की पूजा, नदी नालों की पूजा का स्थान सच्ची ईश्वर पूजा को मिल चुका होता। लोग अज्ञानवश जगत् के पालक के पालनपोषण की चिन्ता न करते। न उसे खिलाने का आडम्बर करते और न ही उसे दूध पिलाने का पाखण्ड पनपता।

भारत के यशस्वी इतिहासकार, हिन्दी पत्रकारिता के एक जनक श्री पं० इन्द्रजी, वैदिक विनय के लेखक आचार्य अभयदेव जी, श्री पं० ब्रह्मदत्त जी 'जिज्ञासु', महात्मा प्रभु आश्रित जी, महात्मा आनन्दस्वामी जी, श्री महात्मा आनन्दभिक्षु जी व ज्ञान समुद्र पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड आदि मूर्धन्य विद्वानों व विभूतियों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। आनन्दस्वामी जी की रसभरी कथाओं में इसके कई प्रमाण होते थे। उनकी पुस्तकों को ध्यान से पढ़ने पर इसकी स्पष्ट छाप मिलती है। मेरी चाह है कि इस अनमोल रत्न को घर-घर पहुँचाया जाय।

—प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'
वेदसदन, अबोहर

ग्रन्थ-संकेत परिचय

१. स० प्र० समु०	सत्यार्थ-प्रकाश, समुल्लास
२. ऋ० भा०	ऋग्वेद भाष्य
३. पं० म० विधि	पञ्च महायज्ञविधि
४. य० भा०	यजुर्वेद भाष्य
५. आ० वि०	आर्याभिविनय
६. श्रीम० प्र०	श्रीमद्दयानन्द प्रकाश
७. ऋ० भा० भू०	ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका
८. उ० मं०	उपदेश मञ्जरी
९. सं० वि०	संस्कारविधि
१०. ऋ० प०	ऋषि के पत्र-व्यवहार
११. व्य० भा०	व्यवहार भानु
१२. स० प्र० प्र० सं०	सत्यार्थ-प्रकाश, प्रथम-संस्करण

प्रभु-भक्त दयानन्द

मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य अपनी आत्मिक ज्योति को प्राप्त करना, तथा उसके विमल प्रकाश द्वारा निज अन्तःकरण में प्रभु के दिव्य दर्शनों को प्राप्त करना है। वही मनुष्य इस भवजाल के जन्म-मरणरूपी बन्धन से मुक्त हो सकता है, तथा इस लोक मे भी सुख और शान्ति का अनुभव कर सकता है, जिसने अपने निर्मल अन्तःकरण में उस प्रभु का साक्षात् कर लिया है। जो मनुष्य अहर्निश सांसारिक सुख भोग में आसक्त होकर प्रभु प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं होता, उसका जीवन अजागल-स्तनवत् निरर्थक ही नहीं, प्रत्युत सर्वथा शुष्क और नीरस है। यह सर्वथा सत्य है कि भगवद्-विमुख जन न तो इस लोक में ही सुख और शान्ति का अनुभव कर सकते हैं और न ही जन्म-मरणरूपी गमनागमन से ही छुटकारा पा सकते हैं। इसीलिए वेद के शब्दों में एक सच्चा प्रभु-प्रेमी, मुमुक्षु प्रभु से प्रार्थना करता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

"हे करुणामय प्रभो! आप अपनी अपार अनुकम्पा से मुझे वह आत्मिक बल प्रदान करो जिससे कि मैं अपनी विशुद्ध आत्मिकज्योति द्वारा अविद्यान्धकार से रहित आपके महान् दिव्य दर्शनों को प्राप्त कर सकूँ। भगवन्! आपके दिव्य दर्शनों को पाकर ही मैं इन जन्म-मरणरूपी भव-बन्धनों तथा अविद्या आदि पंच क्लेशों से सर्वथा पृथक् और मुक्त हो सकूँगा। स्वामिन्! आपके मधुर-मिलन के बिना अन्य कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे कि मैं इस भव-जाल से मुक्त हो सकूँ।" कई प्रभु के अनन्य भक्त तो व्याकुल होकर वेद के शब्दों मे यहाँ तक कहने लगते हैं—

उत त्वया तन्वा संवदे, तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत, कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम्॥

प्रभो! वह दिन कब आयेगा, जब मैं तेरी प्रेममयी गोदी में बैठकर तुझ से मधुर वार्तालाप करूँगा। हे अन्तर्यामिन्! कब मैं तेरे दिव्य स्वरूप में इतना लवलीन हो जाऊँगा कि अपनी सुधबुध भी भूल जाऊँगा। नाथ! कब आप मेरे हृदय मन्दिर

के द्वार पर स्वयं आकर निःशंकरूप से मेरी भेंटें स्वीकार करोगे। प्रभो! वह कौनसी शुभ घड़ी होगी, जब मैं अपने शुद्ध पवित्र और निर्मल अन्तःकरण द्वारा तेरे मंगलमय परमानन्द स्वरूप के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाऊँगा, और अपने को धन्य समझूँगा।

अब प्रश्न होता है कि उस सुखों के अनन्त भण्डार प्रभु का मधुर मिलन कैसे हो? इसके लिए महात्मा जनों ने अनेक साधन बताए हैं। जिनमें सबसे सरल तथा सुगम साधन है "प्रभु भक्ति"। ईश्वर की भक्ति ही प्रभु-प्राप्ति का एक मात्र अचूक तथा सरल उपाय है। किन्तु प्रभु के प्रति पूर्ण श्रद्धा तथा भक्ति-भाव का अंकुर तब तक उत्पन्न नहीं हो सकता, जब तक कि भक्त का भगवान् की सत्ता के ऊपर अटल विश्वास न हो। प्रभु-सत्ता पर अटल विश्वास होने पर ही उपासक के मनोमंदिर में प्रभु के प्रति भक्तिभाव का अंकुर उत्पन्न होता है। जिसके हृदय में भगवान् के प्रति अटल विश्वास तथा अगाध श्रद्धा नहीं, वह कभी भी 'भगवद्-भक्त' के पावन-पद को प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए उपनिषदें कहती हैं:-

"अस्तीत्येवोपलब्धव्यः"

अर्थात् भगवान् हैं, ऐसा अटल विश्वास रख कर ही साधक को प्रभु-पद प्राप्ति के पावन-पथ पर पदार्पण करना चाहिये। सारांश यह है कि मनुष्य भगवान् पर अटल विश्वास रखने, तथा उसकी प्रेम-पूर्ण-भक्ति द्वारा ही प्रभु को पा सकता है। तथा यही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। इसीलिए अद्यावधि संसार मे जितने भी सन्त तथा महात्मा हुए हैं, वे भगवान् के अटल विश्वासी तथा उसके परम भक्त थे। प्रभु-प्राप्ति ही उनके जीवन का एकमात्र अन्तिम लक्ष्य था। सच तो यह है कि, महान् आत्मा जो भगवान् उसको अपने जीवनादर्श द्वारा साक्षात् करने से ही वे सन्त, महात्मा वा महापुरुष कहलाए हैं। वास्तव में देखा जाए तो सन्त और महात्मा नाम ही उनका है, जो भगवान् की सत्ता को स्वीकार कर और तदनुसार अपने जीवनादर्श को बनाकर उसका अपनी विमल तथा दिव्य दृष्टि द्वारा साक्षात् कर लेते हैं। जैसा कि उपनिषदों में कहा है:-

अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद, सन्तमेनं ततो विदुः।

अर्थात् "भगवान् हैं" जिसने ऐसा पूर्ण निश्चय कर, उसको यथार्थरूप में जान और पहिचान लिया है, उसे ही 'सन्त'

कहते हैं। इतना ही नहीं, उपनिषद् तो यहाँ तक कहती है—कि जो मनुष्य परमेश्वर की सत्ता पर पूर्ण विश्वास नहीं करते, वे किसी अवस्था में भी सन्त या महात्मा कहलाने के अधिकारी नहीं। चाहे वे अपने को कितना भी उच्च या महान् व्यक्ति क्यों न मानते हों। जैसे कि उपनिषद् ही आगे स्वयं कहती है—

असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्॥

अर्थात् जो जन भगवान् की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, वे किसी भी अवस्था में सन्त नहीं, अपितु उन्हें असन्त ही कहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जो महानुभाव भगवत्–सत्ता को मान कर उसके आदेशानुसार ही अपने जीवनादर्श को बनाने तथा अन्त में प्रभु की अनन्य भक्ति के पावन प्रताप से जगत् के मोह माया रूपी पाशों को तोड़, अपने निर्मल हृदय मन्दिर में प्रभु के दर्शन कर, सदा उसमें ही विचरण करते हैं, वे ही सन्त, महात्मा या भक्त आदि नामों से पुकारे जाते हैं। इसी बात को महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकाराम ने अपने अभंग (मराठी कविता) में बड़ी उत्तम रीति से वर्णन किया है। वे लिखते हैं—

भक्त ऐसे जाणा जे देहीं उदास, गेले आशा पाश निवारुनी।
विषय तो त्यांचा झाला नारायण, नावड़े धन जन मातापिता॥

अर्थात् जो जन इस नश्वर, जड़ शरीर की चिन्ता को छोड़, सदा आत्म–चिन्तन में रत हैं, जिन्होंने संसार के विषय वासना रूपी बन्धन को तोड़ दिया है। तथा जो इस विनश्वर संसार के स्त्री, पुत्र, माता–पिता तथा धन सम्पत्ति के मोह को छोड़ कर केवल भगवान् में ही विचरण करते हैं, जिन्होंने संसार के क्षणिक विषयों से सदा के लिए मुँह मोड़ केवल प्रभु को ही एक मात्र अपना विषय अर्थात् लक्ष्य बना लिया है, उन्हीं पुरुषों को भक्त या संत समझना चाहिये।

ऐसे सन्तों तथा भक्तों का सर्वस्व केवल भगवान् के लिए ही हुआ करता है। वे अपना तन, मन, धन सब कुछ भगवान् को ही अर्पण कर देते हैं। वे वेद के शब्दों में भगवान् से सदा यही प्रार्थना किया करते हैं—

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः।

हे भक्त वत्सल प्रभो! हम तो आप के मधुर मिलन के

लिए ही इस मन को अपने तन में धारण कर रहे हैं। ऐसे संत ही संसार में आकर भवानल में सन्तप्त आत्माओं को शान्ति प्रदान करते हैं। अविद्या-अन्धकार से ग्रसित कुमार्गगामी जीवों को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। तथा भगवद्-विमुख नास्तिक जनों में भी अपने सदुपदेशों द्वारा आस्तिक भावों का संचार करते हैं। ऐसे महापुरुष समय-समय पर सब देशों में हुए हैं। इन्हीं महापुरुषों में उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध महापुरुष ऋषि दयानन्दजी महाराज भी हैं। जिन्होंने सौराष्ट्र प्रान्त में प्रकट हो अपने मधुर उपदेशों द्वारा सम्पूर्ण भारत को ही सुराष्ट्र बना दिया है। सदियों से अज्ञानरूपी गाढ़निद्रा में सोई हुई आर्य जाति को अपने सदुपदेश-रूपी सिंहगर्जना से पुनः जागृत कर, उसमें नव चैतन्य का संचार किया है। अन्य भगवद् भक्तों की भाँति ऋषि दयानन्द भी भगवान् के अनन्य भक्त थे। उन्होंने एक मात्र भगवान् के मधुर-मिलन के लिए ही अपने सर्व सौख्य सम्पन्न, सम्पत्ति-शाली गृह का परित्याग कर दिया था। माता, पिता तथा अन्य स्नेही सम्बन्धियों से अपने स्नेह सूत्र को सदा के लिए तोड़ दिया था। बीस बाईस वर्ष की तारुण्य-अवस्था में विवाह के प्रबल-प्रलोभन भी उन्हें प्रभु-प्राप्ति के पावन-पथ से परे नहीं हटा सके। उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य प्रभु भक्ति तथा परमात्मपद प्राप्ति ही था। प्रिय-पाठकों को महर्षि के आध्यात्मिक उपदेशों को पढ़कर ही उन के प्रभुमय जीवन का प्रबल परिचय प्राप्त हो जायेगा।

पूर्व इसके कि हम महाराज के आध्यात्मिक उपदेशरूपी पावनपीयूष का अपने प्रिय पाठकों को पान कराएँ, उनके प्रभुमय जीवन की थोड़ी-सी झाँकी करा देना उचित समझते हैं। जैसा कि हम प्रथम लिख आए हैं कि भगवान् दयानन्द प्रभु के न केवल अटल विश्वासी प्रत्युत अनन्य-भक्त भी थे। इसका प्रबल परिचय उनके आध्यात्मिक उपदेशों से तो मिलता ही है, किन्तु उनका जीवन भी उनकी प्रभु-परायणता का प्रबल परिचायक है। सिन्ध के प्रसिद्ध सन्त टी०एल० वास्वानी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "पथ प्रदीप" में लिखते हैं—"महर्षि दयानन्द का ईश्वर पर अटल विश्वास था। उस सच्चिदानन्द चेतनस्वरूप आत्मा की पूजा करना ही दयानन्द के जीवन का परमलक्ष्य था।" किन्तु जहाँ वे प्रभु के अनन्य भक्त थे, वहाँ वे अन्ध श्रद्धालु भी नहीं थे। वे भगवान् के

नाम पर किए जानेवाले मिथ्या स्वार्थ साधक आडम्बरों को पसन्द नहीं करते थे। वे केवल परमेश्वर का वाचिक जप करना मात्र ही ईश्वर भक्ति नहीं मानते थे। भगवान् के पवित्र नाम का अर्थ विचारपूर्वक जप करना और तदनुकूल प्रभु की गुणगरिमा को अपने जीवन में चरितार्थ करना ही प्रभु की सच्ची भक्ति बताते थे। महर्षि "स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश" में उपासना का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"जैसे परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, उसी प्रकार अपने भी गुण, कर्म स्वभावों को पवित्र बनाना, तथा ईश्वर को सर्वव्यापक जानकर उसकी समीपता का योगाभ्यास द्वारा साक्षात् करना ही उपासना कहलाती है" ऋषि दयानन्द जिस वैदिक-भक्ति के पोषक थे, उसका संक्षिप्त-स्वरूप हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर देना उचित समझते हैं। पूर्व इसके कि हम प्रभु-भक्ति का ऋषि सम्मत स्वरूप पाठकों के सम्मुख रखें, प्रभु की भक्ति क्यों की जाए इस सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ लिख देना भी उचित समझते हैं।

यह जीव आत्मिक शान्ति और पूर्णानन्द को प्राप्त करने के लिए ही मानव देह में अवतरित हुआ है। यही इसके जीवन संग्राम का चरम लक्ष्य है। इसीलिए ही यह जीव सुख और शान्ति का अभिलाषी बन कर, उसकी प्राप्ति के लिए दर, बदर भटकता और ठोकरें खाता फिरता है। उसके जीवन का सारा क्रियाकलाप, सारी उधेड़बुन केवल जीवन को शान्त और सुखमय बनाने के लिए ही है। किन्तु इस जीवन संग्राम में इतनी खटपट और उधेड़बुन करने पर भी यह आत्मा उस सच्चे सुख और शान्ति से वंचित ही रहता है। इतना ही नहीं, प्रत्युत कभी-कभी तो वह जीवन में सुख और शान्ति के बजाए अत्यन्त क्लेश, दुःख और अशान्ति का ही अनुभव करता है। संसार के नाना प्रकार के भोगों और वैभव का भोग करते हुए भी वह उनमें उस शान्ति और आनन्द का अनुभव नहीं करता, जिसकी कि उसे चिर-अभिलाषा है। ऐसा क्यों? इसका एकमात्र कारण यही है कि जिन भौतिक-पदार्थों में वह परमानन्द और परमशान्ति का अभिलाषी बन, भटक रहा है, वे पदार्थ स्वयं सुख और शान्ति से सर्वथा परे हैं। भला जिसके पास जो वस्तु है ही नहीं वह दूसरे को क्या देगा। जो स्वयं भूख से तड़प रहा है, वह भूखों को कैसे

भोजन खिला सकेगा, और हमारी भूख को क्यों कर शान्त कर सकेगा। इसलिए आत्मा इन भौतिक पदार्थों में भटक कर निराश हो जाता है। उसे अपने अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, प्रत्युत यह विश्व के विविध-विषय भोग और आमोद-प्रमोद सुख और शान्ति के स्थान पर उलटा उसके दुःख और अशान्ति का कारण बन जाते हैं तो वह निराश हो जाता है। और वह सन्तप्त हो उठता है। उसे चारों ओर विषय वासनाओं की जलती हुई प्रचण्ड ज्वालाएँ व्याकुल, सन्तप्त और अशान्त बना देती हैं उस समय उसे सुख और शान्ति के परम धाम प्रभु का स्मरण आता है, वह पश्चात्ताप करता हुआ वेद के शब्दों में प्रभु से पुकार कर उठता है—

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।

हे दीनबन्धो! हे अधमोद्धारक! अब तो मुझे ये तृष्णाएँ, ये विश्व की क्षणिक कामनाएँ, और विषय भोगों की विष भरी वासनाएँ सपत्नियों के समान चारों ओर से संतप्त कर रही हैं। भगवन्! अब मैं सब ओर से निराश होकर और तेरा भक्त बनकर तेरे द्वार पर आया हूँ। हे दीनबन्धो! क्या इस दीन की पुकार न सुनोगे? क्या अपने इस भक्त को विश्व की क्षणिक वासनाओं और तृष्णाओं से हटाकर अपनी प्रेममयी पावन गोद में नहीं बिठाओगे? उस समय ऋषि दयानन्द के शब्दों में प्रभु उस संसार के त्रिविध तापों से संतप्त अति व्याकुल भक्त की करुण पुकार को सुनते हैं, और उसे अपनी प्रेममयी गोद में ले लेते हैं। वह अशरण शरण भगवान् अपने भक्त को निज शरण में कैसे लेते हैं। इसका ऋषि दयानन्द ने "सत्यधर्म-विचार" नामक पुस्तक में बड़े मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है। ऋषि लिखते हैं—

"जब सच्चे मन से अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य से जीव भगवान् को भजता है, तो वह करुणामय परमेश्वर उसको अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। जैसे जब कोई छोटा बालक घर के ऊपर से अपने माता पिता के साथ नीचे आना चाहता है। या नीचे से ऊपर उनके पास जाना चाहता हैं तब हजारों आवश्यक कामों को भी छोड़कर माता पिता अपने बालक को उठाकर अपनी गोद में ले लेते हैं कि कहीं हमारा लड़का गिर पड़ेगा तो उसको चोट लगने से दुःख होगा और जैसे माता पिता अपने बच्चे को सदा

सुख में रखने की इच्छा और पुरुषार्थ सदा करते रहते हैं, वैसे ही परम कृपानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई प्राणी सच्चे आत्म भाव से चलता है, तब वह प्रभु अनन्त शक्ति रूपी हाथों से उस जीव को उठाकर अपनी गोद में सदा के लिए ले लेते हैं। फिर उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देते।"

वास्तव में भगवान् पतञ्जलि के शब्दों में अविद्या आदि पंच-क्लेशों से संतप्त, और परिणाम, ताप, संस्कार आदि दुःखों से त्रसित इस जीव के लिए एक मात्र वह सच्चिदानन्द प्रभु ही सच्ची शान्ति और परम सुख का सहारा है। इसलिए वेद कहता है–

"न त्वदृते अमृता मादयन्ते"

हे आनन्द कन्द, सच्चिदानन्द प्रभो! तेरी शरणगति के बिना तेरे ये अमृत पुत्र पूर्णानन्द-प्राप्ति का लाभ नहीं कर सकते।

वास्तव में जो मनुष्य अपने जीवन को कदाचारों और कुत्सित संस्कारों से परे हटाकर उस प्रभु की शरण में आ जाता है, दूसरे शब्दों में वह अपनी अधमावस्था पर पश्चात्ताप करता हुआ, उससे ऊपर उठकर सन्मार्ग-गामी बन जाता है तब भगवान् अवश्य उसके ऊपर सब प्रकार के सुखों की वर्षा करते हैं। चारों ओर से **"शंयोः अभि स्रवन्तु नः"** उस पर आनन्द की वृष्टियाँ होने लगती हैं। इसलिए वेद कहता है–

त्वमग्ने! इन्द्रो वृषभः सतामसि!

हे परम-ज्योतिर्मय प्रभो! तुम ही तो सत्पुरुषों के लिए, अपने अनन्य भक्तों के लिए इन्द्र और वृषभ बनकर, उनके ऊपर समग्र ऐश्वर्यों और सकल सुखों की वर्षा करनेवाले हो।

मा ते भयं जरितारम्

तेरे प्रेमी भक्त को भय, चिन्ता और दुःख कहाँ? वेद के उपर्युक्त वचनों से सिद्ध होता है कि एकमात्र प्रभु-भक्ति ही इस भव-बन्धन में पड़े जीव को बन्धन से छुड़ानेवाली तथा सुख, शान्ति और आनन्द को प्रदान करनेवाली है। बिना ईश्वर-आराधना के आत्मा को परम शान्ति और परमानन्द की उपलब्धि होना कठिन हीं नहीं प्रत्युत नितान्त असम्भव है।

प्रभु-भक्ति का स्वरूप

अब हम ऋषिसम्मत प्रभु भक्ति के स्वरूप पर विचार करते हैं। भक्ति में तीन बातों का जान लेना परम-आवश्यक है। भक्ति किसकी करें, कैसे बनकर करें और क्यों करें? बिना इन तीन बातों के जाने जो जन भक्ति मार्ग पर चलने लगते हैं। वे सदा अपने चरम लक्ष्य से दूर ही रहते हैं उन्हें उस शान्ति और आनन्द का अनुभव नहीं होता, जो कि एक सच्चे साधक को होना चाहिये। अतः इस पथ के पथिक को इन तीन बातों को जान लेना परम-आवश्यक है। अब हम संक्षेप से प्रेमी पाठकों के सम्मुख इन तीनों का वर्णन करेंगे।

भक्त का पहिला कर्त्तव्य है कि वह यह विचार करे कि जिसको वह आपना आराध्य देव बनाना चाहता है, ज़िस आराध्य को वह अपने मनो-मन्दिर का मेहमान बनाना चाहता है उसका क्या स्वरूप है। उस उपास्य देव की उपासना से भक्त को अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति होगी या नहीं। भक्त कैसे आराध्य देव की आराधना करे। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद में एक मन्त्र आता है।

ओ३म् तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धुः सूनुः।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम्॥

"वेद कहता है, हे भक्त! यदि तू सच्ची शान्ति और परम आनन्द प्राप्त करना चाहता है, तो (तम्+उ+स्तुहि) उस एक प्रभु की ही आराधना कर (यः+अन्तः+सिन्धुः) जो इस संसार रूपी सागर में रम रहा है। और अपने भक्तों को इस संसार सागर से पार उतारनेवाला है। (सत्यस्य+सूनु) जो अपने भक्तों को सदा सत्य की ही प्रेरणा करता है। उन्हें सदा सन्मार्ग पर ही चलाता हैं। कभी भी कुपथ-गामी नहीं होने देता। (युवानम्) जो सर्वदा युवा अर्थात् जन्म, ज़रा, व्याधि और मृत्यु के बन्धन से रहित सर्वदा एक रस ही रहता है। (अद्रोघ+वाचम्) जिसकी वाणी में किसी के प्रति द्रोह, वैर, और विश्वासघात नहीं है। (सुशेवम्) जो सारे बलों, सुखों और आनन्द का भण्डार है।"

भक्त सोचता है कि मैं अपने प्रभु को कैसे मिलूं। मेरा

वह प्रियतम मुझे कहाँ मिलेगा, और नाना प्रकार की तृष्णाओं तथा आसुरी वासनाओं रूपी तरंगों से तरंगित, काम, क्रोध, राग, मोह, ईर्ष्या आदि जल जन्तुओं से पूर्ण इस भव सागर में मेरा कौन सहारा है। भक्त की इन सब आशंकाओं का समाधान वेद एक ही वाक्य में कर देता है। (यः+अन्तः+सिन्धुः+तम्+उ+स्तुहि) ऐ भक्त तू उस प्रभु की ही स्तुति प्रार्थना और उपासना कर, जो सर्व व्यापक और सर्वान्तयामी है। क्योंकि वह तेरा आराध्य देव तो अन्तर्यामी होकर तेरे-रोम-रोम में रम रहा है। फिर तुझे उस आराध्य-देव की अराधना करने के लिए इधर-उधर जाने और दर-बदर भटकने की आवश्यकता क्यों? इसमें भी कुछ सन्देह नहीं कि यह संसार एक अथाह सागर है, जिसमें यह जीव अपनी दुर्वासनाओं और निर्बलताओं के वशीभूत होकर अहर्निश गोते खा रहा है। परन्तु यह भी ध्रुव सत्य है कि जो भक्त उस करुणामय प्रभु का आश्रय ले लेता है, उस दैवी नौका पर चढ़ बैठता है, वह इस भव-सिन्धु से तर कर पार हो जाता है। फिर उसे बार बार इस भव-सागर में गोते खाने नहीं पड़ते। भगवान् स्वयं "अन्तः सिन्धुः" बन कर अपने प्रिय-भक्त को निज करुणामय हाथों से पार उतार देते हैं। इसीलिए वेद कहता है—

तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।

"वह प्रभु का प्यारा भक्त भव सागर से तर जाता है। जो हृदय मन्दिर में बहती हुई प्रभु-भक्ति रूपी प्रेममयी पावन-धारा के साथ सदा दौड़ लगाया करता है।" भक्त यह समझ ले कि कहीं मैं इस अध्यात्म मार्ग पर, प्रभु-प्राप्ति के पावन-पथ पर चलकर भटक तो नहीं जाऊँगा। दर बदर ठोकरें तो नहीं खाता फिरूँगा। वेद कहता है भक्त! इसकी भी तू चिन्ता मत कर। प्रभु-प्राप्ति के पवित्र पथ पर चलनेवाला पथिक कभी भटका नहीं करता। कभी ठोकरें नहीं खाया करता क्योंकि भगवान् तो 'सत्यस्य+सूनु' हैं। वे हमेशा सबको सत्य की ही प्रेरणा करते हैं। अपने भक्त को सदा सन्मार्ग पर ही चलाते हैं। उसे कभी भी कुमार्गगामी नहीं बनने देते। फिर जो भक्त असन्मार्गारूढ़ ही नहीं होता तो भला फिर वह भटकेगा ही कैसे? जिस प्रभु-प्राप्ति के पथ पर सदा सत्य का ही पावन प्रकाश देदीप्यमान हो रहा है। जहाँ तम का लेश भी नहीं, वहाँ ठोकरें और धक्के कहाँ? फिर भक्त ... सोचता है, यह जो

में संसार के जन्म मरण के पाश में फंस कर नाना दुःखों और क्लेशों से सन्तप्त हो रहा हूँ। क्या प्रभु-भक्ति से यह जन्म, जरा, मृत्यु का बन्धन भी मुझ से सदा के लिए छूटेगा या नहीं? इसके लिये भी वेद भक्त को आश्वासन देता है। भक्त! इसकी भी तू चिन्ता मतकर। भगवान् का अनन्य-भक्त उसकी प्रेममयी गोद में बैठकर अति दीर्घकाल तक जन्म, जरा, मृत्यु रूपी भवपाश में नहीं फंसता। वह तो अपने आत्म-स्वरूप में स्थिर होकर सदा 'युवा' अर्थात् एक रस ही बना रहता है। क्योंकि भगवान् स्वयं ही 'युवा' है अर्थात् सदा एक रस रहनेवाले हैं। फिर सदा युवा रहनेवाले प्रभु के भक्त को जन्म जरा, मृत्यु का भय कहाँ?

प्रभु-प्राप्ति का लक्ष्य केवल जन्म, जरा, मृत्यु से छुटकारा पाना ही तो नहीं। प्रत्युत उससे छूटकर उस परमानन्द और परम-शांति को प्राप्त करना है, जिसकी खोज में जीव जन्म जन्मान्तरों से भटक रहा है। अतः भक्त सोचने लगता है कि प्रभु की उपासना से मैं जन्म जन्मान्तरों से तो छूट जाऊँगा, किन्तु मेरा अन्तिम लक्ष्य तो परमानन्द की प्राप्ति है। प्रभु भक्ति द्वारा इसकी भी मुझे प्राप्ति होगी या नहीं? वेद भक्त के इस सन्देह को भी दूर करता हुआ कहता है—हे प्रिय भक्त! तू इस सन्देह को भी अपने हृदय पटल से सदा के लिए निकाल दे, क्योंकि तेरे आराध्य देव भगवान् तो 'सुशेवः' हैं। सारे सुखों के भण्डार हैं। परम शान्ति और पूर्णानन्द के परम धाम हैं, फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि उस शांति और आनन्द के परम निकेतन को प्राप्त करने पर तू आनन्द से वंचित रह जाए। उस परमकल्याणमय 'शंकर' को पाकर विश्व के क्षणिक विषय भोग रूपी शंकरों में ही तू भटकता फिरे। अरे भक्त! तू तो उस परम-ज्योति को प्राप्त कर लेने पर वहाँ पहुँच जायेगा कि—

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आस्ते।
कामस्य यत्राप्ताः कामाः०

जहाँ आनन्द और मोद के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जहाँ पहुँच कर भक्त की सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। और फिर वह आप्तकाम बन जाता है। अन्त में भक्त के हृदय में एक सन्देह और रह जाता है कि प्रभु के जिस मंगलमय स्वरूप का वर्णन वेद ने किया है वह वर्णन सत्य

भी है, या नहीं? क्या वास्तव में मेरे आराध्य देव का ऐसा ही स्वरूप है, जैसा कि वेद ने वर्णन किया है। किसी भावुक कवि-हृदय ने भावनामय-आलंकारिक भाषा में भगवान् के स्वरूप को बढ़ा-चढ़ाकर तो नहीं लिख दिया? वेद इस सम्बन्ध में भी भक्त को सांत्वना देता हुआ कहता है—प्रिय भक्त! याद रख! वेद किसी अल्पज्ञ सांसारिक कवि की कोरी कल्पना का प्रलाप मात्र नहीं। वह तो साक्षात् सर्वज्ञ भगवान् की अमृत वाणी हैं जिसकी वाणी में कभी किसी के प्रति असद्-व्यवहार और विश्वासघात हो ही नहीं सकता, क्योंकि भगवान् तो स्वयं 'अद्रोघवाक् हैं। भला उस 'अद्रोघवाक्' की वाणी में असत्य, द्रोह और विश्वासघात कहाँ? इसलिए यदि तू अपने जीवन को परम-शान्तिमय बनाना चाहता है तो इस वेद वचन पर पूर्ण श्रद्धा और अटल-विश्वास रख और इस मन्त्र में वर्णित उस परम करुणामय प्रभु की उपासना द्वारा उसमें तल्लीन हो जा। इतना तल्लीन हो कि तू अपने को ही भूल जाए और वेद के शब्दों में स्वयं कह उठे—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥

हे प्राणधन! अब तो मैं आपकी भव-भय हारिणी पावन भक्ति द्वारा तुझमें इतना तन्मय हो गया कि—मैं तू बन गया, और तू मैं बन गया। अब मुझे पता लगा कि अपने अनन्य भक्तों के प्रति तेरे कृपा कटाक्ष और आशीर्वाद कितने अटल, ध्रुव और सत्य हैं।

प्रिय पाठक देखें! अथर्ववेद ने उपर्युक्त मन्त्र में भक्त के आराध्य देव भगवान् का कितना सुन्दर स्वरूप हमारे सम्मुख रखा है। और साथ ही उन्हीं शब्दों द्वारा भक्ति मार्ग में उठनेवाले भक्त के सन्देहों को भी सदा के लिए दूर कर दिया है।

वेद जहाँ भगवान् के सत्य शिव और सुन्दर स्वरूप को यथार्थ रूप में हमारे सम्मुख रखता है, वहाँ भक्त के स्वरूप और कर्त्तव्यों का भी बड़ा सुन्दर और मार्मिक वर्णन करता है। वेद का कथन है कि जो भक्त प्रभु को प्राप्त करना चाहता है, सर्व प्रथम उसके हृदय में प्रभु-प्राप्ति की तीव्र लग्न होनी चाहिये, उत्कृष्ट इच्छा होनी चाहिये। प्रभु-प्रेम के प्रति उसे अपना सब कुछ अर्पण कर देना चाहिये। भक्त प्रवर सुन्दरदास के कथनानुसार भगवत्प्राप्ति के लिए, उसके पावन-प्रेम

के लिए भक्त इतना विह्वल हो जाए, इतना व्याकुल हो जाए कि वह अपने शरीर की सुध बुध को भी भूल जाए।

प्रेम लाग्यो जब ईश्वर सों, तब भूल गयो सिगरो घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरे, इत ही तित, नेकु रही न शरीर सम्भारा।।

उसे तो वेद के कथनानुसार सदा यही प्रार्थना करनी चाहिये, जैसा कि हम पहले लिख आए हैं–

उत स्वया तन्वा संवदे, तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं में हव्यमहृणानो जुषेत, कदा मृडिकं सुमना अभिख्यम्।

प्रभो! वह दिन कब आयेगा, जब मैं तेरी प्रेममयी गोद में बैठकर तुझ से वार्तालाप करूँगा। हे अन्तर्यामिन्! कब मैं तेरे दिव्य स्वरूप में इतना लवलीन हो जाऊँगा, कि अपनी सुध बुध भी भूल जाऊँगा। नाथ! कब आप मेरे हृदय-मन्दिर में स्वयं पधार कर निःशंकरूप में मेरी प्रेममयी श्रद्धाभरी भेटें स्वीकार करोगे। प्रभो! वह कौनसी शुभ घड़ी होगी, जब मैं अपने शुद्ध, पवित्र और निर्मल मन द्वारा तेरे मंगलमय स्वरूप का दर्शन कर कृतकृतय हो जाऊँगा, और अपने को धन्य-धन्य समझूँगा।

इस प्रकार जब भक्त के हृदय में प्रभु-प्राप्ति की प्रबल भावना और उत्कट अभिलाषा जागृत हो जाती है, तो वह करुणा-वरुणालय वरुणदेव अवश्य अपने भक्त पर कृपा दृष्टि करते हैं और उसे अपनी प्रेममयी गोद में बैठाकर सदा के लिए निहाल कर देते हैं। किन्तु प्रभु-प्राप्ति के प्रति इतनी तीव्र लगन, इतनी उत्कट अभिलाषा, तभी उत्पन्न होती है, जब साधक संसार के क्षणिक-भोगों की ओर से मुख मोड़ कर शुभ तथा निष्काम कर्मों द्वारा अपने हृदय को शुद्ध, पवित्र तथा निर्मल बना लेता है। दूसरे शब्दों में अपने सब कर्मो को उस यज्ञरूपी प्रभु की हवि बना कर अपने जीवन को हविष्मान् अर्थात् यज्ञमय बना लेता है। इसीलिए वेद में प्रभु-प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा रखनेवाले भक्त भगवान् से प्रार्थना करते हैं–

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे। उत त्वमस्मयुर्भव।।

"हे इन्द्र! हम तेरे उपासक हविष्मान् बनकर अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर तेरी साधना करते हैं, जिससे कि तू हमारा और हम तेरे बन जाएँ।" अतः जो भक्त प्रभु को अपना बनाना चाहता है, उसे वेद के कथनानुसार अपने जीवन को यज्ञमय

बनाकर प्रभु का बन जाना चाहिये। वेद ने तो प्रभु का नाम ही "यज्ञसाध" रखा है, अर्थात् जिसकी साधना यज्ञ द्वारा ही हो सकती है। वेद कहता है–

तमीडत प्रथमं यज्ञसाधम्।

हे प्रभु–प्राप्ति के अभिलाषी जनो! याद रखो! वह मंगलमय प्रभु "यज्ञसाध" है अतः यदि तुम उससे मिलना चाहते हो तो यज्ञसाधना द्वारा ही उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करो। वह प्रभु "यज्ञसाध" हैं इसीलिए तो वेद कहता है–

यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निम्। यजध्वं हविषा तना गिरा।

"हे मनुष्यो! उस परमात्म–ज्योति को यज्ञद्वारा ही अपने हृदय मन्दिर में प्रकाशित करो और अपने यज्ञमय कर्मों की हवि द्वारा, तथा प्रेम रस भरी उदारवाणी द्वारा उसके पवित्र नाम का स्मरण तथा उसके पावन–गुणों का कीर्त्तन करते हुए उस परम ज्योति को दिन प्रतिदिन अपने हृदय–मन्दिर में बढ़ाते चलो" इस प्रकार इस वैदिक भक्ति द्वारा परमात्मा स्वरूप में तल्लीन हो जानेवाले भक्त को वह आनन्द प्राप्त होता है, वह रस मिलता है कि जिसको पान कर भक्त सदा के लिए तृप्त हो जाता है। वह रस कैसा है, इसका वर्णन वेद ने बड़े रसमय शब्दों में किया है–

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥

–ऋ० ६.४७.१

यह प्रभु प्राप्ति का रस अत्यंत स्वादु है अत्यंत मधुर है, और अत्यन्त तीव्र अर्थात् तेज है। इतना तेज कि एक बार जिसको इस प्रभु प्राप्ति के पावन रस का नशा चढ़ गया, फिर कभी उतरता ही नहीं। संसार के क्षणिक नशे तो थोड़ी देर तक ही रहते हैं, परन्तु यह नशा तो सदा ही बना रहता है गुरु नानक ने इस नशे के सम्बन्ध में कितना सुन्दर कहा है–

माड़ा नशा शराब दा जो उतर जाए प्रभात।
नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात॥

फिर वह रस कोई साधारण रस नहीं, प्रत्युत वह परम उत्कृष्ट रस है कि जिसको पान कर भक्त सदा के लिए तृप्त हो जाता है। जो इन्द्र आत्मा इसका पान कर लेता है

फिर इस जीवन संग्राम में उसे कोई परास्त ही नहीं कर सकता। वह अजेय हो जाता है।

पाठक वृन्द! देखें, वेद ने प्रभु-प्राप्ति का कैसा सुन्दर मार्ग दर्शाया है। और किस प्रकार प्रभु के पावन स्वरूप का, भक्त के कर्त्तव्यों का और प्रभु-प्राप्ति के पवित्र उद्देश्यों का मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। इस प्रकार की वैदिक भक्ति ही प्रभु के अनन्य-भक्त भगवान् दयानन्द को अभीष्ट थी। इसीलिए ऋषि दयानन्द भगवान् के अवतारों की कल्पना कर उनकी मूर्ति की षोडशोपचार पूजा करना और उनकी कल्पित लीलाओं का वर्णन करना ही परमेश्वर की सच्ची भक्ति नहीं समझते थे। इस प्रकार की पूजा का उन्होंने अपने ग्रन्थों में कई स्थानों पर निराकरण भी किया है। अतः यदि वे लोग जो केवल वाचिक जप करने, इतना ही नहीं अपितु अपने निश्चित जप संख्या की पूर्ति दूसरों से करवा कर भी उसका श्रेय तथा पुण्य अपने ऊपर लेने, तथा भगवान् का अवतार मानकर उनकी पार्थिवपूजा और उनकी भौतिक लीलाओं का वर्णन भी परमेश्वर भक्ति का एक आवश्यक अंग समझते हैं, वे यदि ऋषि दयानन्द को परमेश्वर का भक्त या संत न समझें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो परमेश्वर के अवतारवाद की कल्पना कर उस की पार्थिव पूजा करना भगवद्-भक्ति का अंग ही नहीं है। ऋषि दयानन्द के अतिरिक्त और भी ऐसे संत हुए हैं, जिन्होंने ईश्वर के अवतार तथा पार्थिव पूजा के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया। किन्तु ऐसा होने पर भी वे प्रभु-भक्त नहीं थे, ऐसा कोई भी बुद्धिमान् नहीं कह सकता। पंजाब के प्रसिद्ध संत गुरुनानक साहब ने भी भगवान् के अवतार तथा पार्थिव पूजन को नहीं माना। जैसा कि अवतार-वाद के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

एको सिमिरिये नानका, जो सब जग रह्या समाय।
दूजा काहे को सिमिरिये, जो जम्मे ते मर जाए॥

मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में भी उन्होंने अपने ग्रन्थ साहब में स्पष्ट कहा है—

जो पत्थर को माने देवा, उसकी वृथा जावे सेवा।

इसी प्रकार भगवान् के अनन्य भक्त महात्मा कबीरदासजी

ने भी अवतारवाद और मूर्ति पूजा का समर्थन नहीं किया। अपितु खण्डन ही किया है। मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में वे लिखते हैं–

जो पत्थर पूजे हरि मिले, मैं पूजूं पहाड़।
पत्थर से चक्की भली, जो पीस खाए संसार।।

अवतारवाद का तो उन्होंने बहुत विस्तारपूर्वक एक-एक अवतार का नाम लेकर खण्डन किया है। जैसा कि वे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "बीजक कबीर दास" में लिखते हैं–

तेहिं साहिब के लागो साथा।
दुई दुख मेटि कै होऊ सनाथा।।
दशरथ कुल अवतरि नहिं आया।
नहिं लंका के राय सिताया।।
नहिं देवकी के गर्भ हि आया।
नहिं यशोदा गोद खिलाया।।
पृथिवी रमन दमन नहिं करिया।
पैठि पताल नहिं बलि छलिया।।
नहिं बलि राय सों माड़ी रारी।
नहिं हिरनाकुश वध लपछारी।।
वराह रूप धरणी नहिं धरिया।
क्षत्रि मारि निक्षत्र नहिं करिया।।
नहिं गोवर्धन करतै धरिया।
नहिं गवाल संग बन बन फिरिया।
गंडक शाल ग्राम न शीला।
मत्स्य कच्छ ह्वै नहिं छल हीला।।
दुवारावती शरीर न छोड़ा।
लैं जगन्नाथ पिण्ड नहिं गाड़ा।।
कहिं कबीर पुकार के वा पन्थे मत भूल।
जेहि राखे अनुमान करि थूल नहिं अस्थूल।।

–बीजक कबीरदास, रमेनीं ७५

इसी प्रकार अन्य भी दादू, सुन्दरदास, रैदास आदि सन्त हुए हैं, जिन्होंने ईश्वरावतार तथा पार्थिव पूजन को नहीं माना, फिर भी वे भगवान् के अनन्य भक्त थे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। हजरत ईसा तथा मुहम्मद भी पार्थिव पूजा को नहीं मानते थे। वर्तमान काल के अद्वितीय सन्त महात्मा गांधी भी ईश्वर के अवतार को स्वीकार नहीं करते थे। मुरारि प्रभु में उनका

अटल प्रेम तथा गाढ़ अनुराग था। और तो क्या जिन सन्तों को अवतारवादी कहा जाता है, उन्होंने भी अपनी रचनाओं में यत्र तत्र अवतारवाद तथा पार्थिव-पूजन का प्रत्याख्यान ही किया है। समर्थ गुरु रामदाम तो रामावतार के परम भक्त थे। किन्तु उन्होंने भी अपने "दास बोध" नामक ग्रन्थ में अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है। वे दासबोध के चौदहवें शतक के अखण्ड ध्यान नामक प्रकरण में परमेश्वर को सर्व व्यापक जान कर प्राणी मात्र से प्रेम, तथा उसके पवित्र नाम का श्रद्धापूर्वक जप करने को ही सच्ची ईश्वर-भक्ति बतलाकर आगे लिखते हैं-

सहज सांडूनि सायास। हाचि कोणी एक दोष।
आत्मा सांडून अनात्म्यास, ध्यानी धरती।।
परितो धरिता ही धरवेना, ध्यानी येती व्यक्ति नाना।
उगेची कष्टविती मना, कासा वीस करुनी।।
मूर्त्ति ध्यान करितां सायासे, तेथे एकाचे एक दिसे।
भासों नए तेचि भासे, विलक्षण।। इत्यादि

अर्थात् मनुष्यों के अन्दर यही एक भारी दोष है कि वे उपर्युक्त (मेरे दर्शाए) भगवान् के सुगम ध्यान को छोड़कर अनात्मा अर्थात् जड़ मूर्त्ति आदि का ध्यान करने लग जाते हैं। किन्तु वास्तव में वे मूर्त्ति द्वारा भगवान् का ध्यान ही नहीं कर पाते। उस पूजा के समय उनको नाना मूर्त्तियाँ दीखने लगती हैं, जोकि उपासक के मन को डावांडोल कर व्यर्थ ही उनके हृदय को कष्ट देने का कारण बनती हैं। कष्टसाध्य मूर्ति का ध्यान करते समय उन्हें कुछ और का और ही दीखने लगता है। जिसका सब समय भान नहीं होना चाहिये, वह भी भासने लगता है, जो कि साधक के मन को चंचल तथा दुःखी बना देता है। इस प्रकार की अन्य भी मूर्त्ति-पूजा की बहुत-सी हानियाँ दर्शाते हुए वे आगे लिखते हैं-

देवास देहधारी कल्पिती। तेथे नाना विकल्प उठती।
भोगने त्यागने विपत्ति। देह योगे।

अर्थात् "मूर्त्तिपूजकों के सम्मुख जहाँ अन्य कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, वहाँ उनको परमेश्वर भी देहधारी कल्पना करना पड़ता है। उस समय उनके मन में नाना संकल्प विकल्प उठने लगते हैं। भगवान को देहधारी कल्पना करते समय उनके

मन में सर्व प्रथम यह विचार उठता है, कि यदि परमेश्वर देहधारी बना होगा तो उसने किसी वस्तु का त्याग और किसी का भोग भी किया होगा। अर्थात् किसी से राग तथा किसी से द्वेष भी किया होगा। उनके शरीर पर अनेकों विपत्तियाँ भी आई होंगी। अर्थात् जो परमेश्वर किसी से राग तथा किसी से द्वेष करता है, और जिस परमेश्वर को दुःख तथा विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं, वह निर्विकार सच्चिदानन्द परमेश्वर कैसे?" पाठक देखें कि समर्थ गुरु रामदास ने मूर्त्ति-पूजा तथा अवतार वाद का कितने स्पष्ट शब्दों में निराकरण किया है। इसी प्रकार महाराष्ट्र के दूसरे प्रसिद्ध सन्त महात्मा तुकारामजी को भी साकारवादी कहा जाता है, किन्तु वे भी एक स्थल पर लिखते हैं–

नाहीं रूप नाहीं नांव नाहीं ठांव धराया।
जेथे जावें तेथे आहे विट्ठल माय बहिण।।

अर्थात् भगवान् ने न तो कोई रूप धारण किया, और न कोई राम कृष्ण आदि नाम रखाया और न किसी विशेष स्थान पर विराजमान हुए। वह मेरी सच्ची माता बहिन तो जहाँ जाएँ वहीं व्यापक होकर रम रही है। महाराष्ट्र के तीसरे सुप्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर को भी साकारवादी स्वीकार किया जाता है। अब जरा श्री सन्त ज्ञानेश्वर जी के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गीता भाषा (ज्ञानेश्वरी) के नवें अध्याय में अवतारवाद तथा प्रतिमा पूजन के सम्बन्ध में वर्णित विचारों को देखिए! श्री ज्ञानेश्वरजी के एतद् विषयक विस्तृत विचारों में से कुछ संक्षिप्त संदर्भ हम प्रेमी पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं–

तैंसा कृतनिश्चय वायागेला, जैंसे कोणी एक काँजी प्याला।
मग परिणाम पाहुं लागला अमृताचा,
तैंसे स्थूलाकारीं नाशिवंते, भरवंसा बाँधूनि चित्तें।
पाहती मज अविनाशांतें, तरी कैंचा दिसे।।
येतुलेनि अनामा नाम, मज अक्रियासि कर्म।
विदेहासि देह धर्म, आरोपिसी।।
मज आकार शून्या आकार, निरुपाधिचा उपचार।
मज विधिवर्जिता व्यवहार, अचारादिक।।
मज वर्ण हीना वर्ण गुणातीतासि गुण,
मज अचरणा चरण, अपाणिया पाणी

मज अमेया मान, सर्वगतासि स्थान,
जैंसे सेजे माजी वन निदेला देखे॥
तैंसे अश्रवणा श्रोत्र, मज अचक्षुसी नेत्र,
अगोत्रा गोत्र अरुपा रुप
मज अव्यक्तासि व्यक्ती, अनार्तासी आर्ती,
स्वयं तृप्ता तृप्ती भवितीगा
जंव आकार एक पुढ़ाँ देखती, तंव हा देव येणें भावें भजती।
मग तोचि बिगड़लिया टाँकिती नाही म्हणोनिं। इत्यादि

"हे अर्जुन! जैसे कोई मनुष्य कांजी पीकर अमृत के स्वाद की अभिलाषा करे। जैसे उसका यह निश्चय व्यर्थ जाता है, वैसे ही जो मनुष्य नाशवान् मूर्ति आदि स्थूल आकार में मुझ अविनाशी को देखने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें मैं भला कैसे दर्शन दे सकता हूँ। ऐसे अज्ञानीजन मुझ नामरहित के राम कृष्ण आदि नामों का, मुझ निराकार का आकार निरुपाधि का उपचार, विधिरहित का व्यवहार और आचार, मुझ वर्णनातीत के ब्राह्मण क्षत्रिय आदि वर्ण, गुणातीत के गुण, अपाणिपाद के हाथ और पांव, अपरिमाण का परिमाण, सर्वव्यापक का स्थान, अश्रवण के श्रोत्र, अचक्षु के नेत्र, मुझ अगोत्र का गोत्र, अरूप का रूप, मुझ अव्यक्त की व्यक्ति, मुझ अनार्त की आर्त्ती, स्वयं तृप्त की तृप्ति आदि लौकिक गुण कर्मों की भावना और बखान करते हैं, ऐसे अबोध जन जब कोई मूर्ति आदि आकार सामने देखते हैं, तब, "यह ईश्वर है", ऐसा मानकर उसकीं पूजा करने लगते हैं। परन्तु जब वही मूर्ति आदि आकार फूट कर बिगड़ जाता है तो, "अरे यह तो ईश्वर नहीं? ऐसा कहकर बाहर फैंक देते हैं।

हमारे उपर्युक्त सन्त सन्दर्भों के संकलन का उद्देश्य मूर्ति पूजा तथा अवतारवाद का खण्डन करना नहीं है, प्रत्युत इतना मात्र दर्शाना अभीष्ट है कि यदि उपर्युक्त सन्त मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद को न स्वीकार करने पर भी भगवान् के अनन्य भक्त कहला सकते हैं, तो ऋषि दयानन्दजी महाराज जिनका सारा जीवन ही प्रभुमय था, प्रभुभक्त क्यों न कहलायेंगे। मेरी सम्मति में तो भगवान् दयानन्द केवल भक्त ही नहीं, अपितु भक्त शिरोमणि कहलाने के पात्र हैं। सन्त महात्माओं ने जितने भक्त के लक्षण अपने ग्रन्थों आदि में बतलाए हैं, वे ऋषि

जीवन में इस प्रकार ओत प्रोत थे, जैसे मणिमाला के अन्दर मणि। प्रभु भक्त का कोई भी ऐसा सद्गुणरूपी सुमन नहीं, जो भगवान् दयानन्द के जीवनोद्यान में विकसित न हुआ हो। सार रूप से सन्त जनों ने भगवद् भक्त के निम्न लक्षण बतलाए हैं–

१. भगवान् की प्राप्ति के लिए यदि अपने सर्वस्व तक का भी परित्याग करना पड़े तो कर दे, किन्तु प्रभुपदप्राप्ति के पावन पथ से कभी विचलित न हो और सांसारिक विषय-वासनाओं से सर्वथा सर्वत्र विरक्त हो।

२. भगवान् से अत्यन्त प्रेम करे, तथा अनन्य चित्त होकर उसकी उपासना (भक्ति) में सदा लीन रहे।

३. प्राणि-मात्र को प्रभु का प्रिय पुत्र समझकर उनसे सदा प्रेम करे, उनके कल्याण तथा हित-साधन में अपने जीवन तक को भी अर्पित कर दे।

४. प्रभु-आज्ञा पालन में सदा तत्पर रहे।

५. सदा भगवान् को ही अपना रक्षक तथा परम सहायक समझकर निर्भय जीवन व्यतीत करे।

६. जितेन्द्रिय हो, विषय लम्पट न बने।

७. लोकैषणा का परित्याग कर दे।

८. निराग्रही बने, दुराग्रह कभी न करे।

९. सदा क्षमाशील बनकर अपने अपराधियों का भी अहित चिन्तन न करे।

१०. सब प्रकार से अपनी आत्मा को भगवत्-शरणागति में अर्पण कर दे। इत्यादि।

ये सारे के सारे सन्त-जन-समर्थित प्रभु-भक्त के पावन गुण भगवान् दयानन्द के अन्दर पूर्णतया विद्यमान थे। उन्होंने इन सब गुणों को अपने तपोमय भक्त-जीवन में पूर्णतया चरितार्थ किया था। हम नीचे संक्षेप से इनका दिग्दर्शन पाठकों के सम्मुख रखते हैं।

भगवत्-भक्त का पहिला लक्षण यह है कि–

१. वह प्रभु-प्राप्ति के लिए अपने सर्वस्व तक का परित्याग कर दे। तथा विश्व के विनश्वर विषयों से सर्वथा विरक्त हो। भगवान् दयानन्द के अन्दर यह गुण बाल्यकाल से ही

विद्यमान था। वे बाल्यावास्था में ही शिवरात्रि के दिन यह निश्चय करते हैं, कि मैं उस कल्याणकारी सच्चे शिव के दर्शन अवश्य करूँगा। उसी दिन से वे अपने सम्पूर्ण सांसारिक सुखों का सदा के लिए परित्याग कर देते हैं। उनके लिए अब संसार का कोई सुख सुख रूप में नहीं रहता। सच्चे शिव की लगन में अपने वैभवशाली, ऐश्वर्यं सम्पन्न गृह के नाना प्रकार के सुख भोग भी उनके लिए नीरस बन जाते हैं। उनको यदि कोई धुन है तो यही कि वे मेरे प्राणनाथ, प्रियतम प्रभु कहाँ मिलेंगे। कब उनके दिव्य दर्शनों को पाकर मैं कृतकृत्य बनूंगा। निज ध्रुव धारणा के धनी विरक्त मूलशंकर को अपनी अटल धारणा से संसार का कोई भी विषय भोग विचलित नहीं कर सका। निज धुन के धनी तरुण मूलशंकर को अपने माता पिता द्वारा डाली जानेवाली कामिनी रूपी चमकती हुई हिरण्यमयी शृंखलाएँ भी निज बन्धन में नहीं बांध सकीं।

"यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः"

कठोपनिषद् के इस कथनानुसार जिसमें बड़े-बड़े ज्ञानी जन भी आसक्त होकर बँध जाते हैं, मूलशंकर उन चमकती हुई हिरण्यमय शृंखलाओं को अपने विरति-शस्त्र से तोड़कर फैंक देता है और सदा के लिए आजाद बन जाता है। तथा अपने प्रियतम प्रभु के मधुर मिलन के लिए अपने सम्पत्तिशाली सदन का भी सदा के लिए परित्याग कर देता है। भला इस से बढ़कर प्रभु-प्राप्ति के लिए अपने सर्वस्व तक को अर्पण कर देने का, और तीव्र वैराग्य-भावना का भव्य-दृष्टान्त अन्यत्र कहाँ मिलेगा। विरक्त मूलशंकर जब प्रभु-प्राप्ति की लगन में घर से निकल पड़ते हैं, मार्ग में उनको कुछ छद्म-वेशधारी छलिया साधु मिलते हैं। जिन्होंने किसी राजा की सुन्दर रानी को भी अपने चगुंल में फंसा रखा था। मूलशंकर को वे साधु साथ रहने के लिये प्रेरणा करते हैं। किन्तु विरक्त मूलशंकर जब देखते हैं कि यहाँ विषय-भोग की मृग मरीचिका के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं, तो वे तत्क्षण ही वहाँ से चल पड़ते हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत उनके छद्म वाक्यों को श्रवण कर अपने बहुमूल्य भूषण तथा वस्त्र तक भी वहीं उतार कर फेंक देते हैं। प्रायः देखा गया है कि प्रभु-प्राप्ति के अभिलाषी जन प्रथम तो अपना सर्वस्व परित्याग कर देते हैं, किन्तु मध्य में प्रबल प्रलोभनों के आ जाने पर वे पुनः उनमें फंस जाते

हैं और अपने पावन उद्देश्य का भी परित्याग कर देते हैं। किन्तु भगवान् दयानन्द प्रभु-प्राप्ति के निश्चय से लेकर जब तक वे भगवान् का साक्षात् नहीं कर लेते तब तक मध्य में किसी भी प्रबल-प्रलोभन के वशीभूत हो, अपने ध्येय की ध्रुव धारणा से तनिक भी विचलित नहीं होते। प्रभु प्राप्ति के पश्चात् तो विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऋषि दयानन्द साधकावस्था में जब ओखी मठ पर जाते हैं, तो उस मठ के महन्त गुणीवर दयानन्द के गुणों पर मुग्ध हो जाते हैं तथा उनको अपना प्रिय शिष्य बनाने, और अपनी लाखों रुपयों की गद्दी तक समर्पित करने के लिए समुत्सुक हो जाते हैं। महन्त की इस धन-मद की मादकता भरी मनोभिलाषा को सुन ऋषिवर उन्हें उत्तर देते हैं, महन्त जी! मैं कभी भी आपकी इस गद्दी को स्वीकार नहीं कर सकता। जिस पावन लक्ष्य की पूर्ति के लिए मैंने प्रेमी परिजनों तथा पिता की लाखों रुपयों की सम्पत्ति का परित्याग किया है, उस पुनीत-पदार्थ की पूर्त्ति मुझे यहाँ होती नहीं दीखती। जिस दिलदार के दीदार के लिए मैं दरबदर भटक रहा हूँ, उस प्रीतम की पावन-झांकी मुझे यहाँ नहीं मिल सकती। यह कह कर दयानन्द उस स्थान से प्रस्थान कर देते हैं। ऋषिवर की इन जीवन घटनाओं से पता लगता है, कि उसके अन्दर प्रभु प्राप्ति के लिए कितनी तड़प थी तथा तीव्र अनुराग और सांसारिक विषयों से पूर्ण वैराग्य था। किस प्रकार उन्होंने निज उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए अपने सर्वस्व तक का भी परित्याग कर दिया था। महर्षि की प्रभु-प्राप्ति की लगन तथा तीव्र वैराग्य की भावना को स्वामी सत्यानन्दजी महाराज ने भी अपने "श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश" नामक ग्रन्थ में निम्न स्वर्णाक्षरों में वर्णित किया है–

१९०२ का सम्वत् था। उनकी आयु २२ वर्ष की हो चुकी थी। एक दिन सायं समय उनका मन अपने सम्बन्धियों के ममता मोह से उठ गया। अनुराग रज्जु आजन्म के लिए टूट गई। उन्होंने यह कहते हुए–फिर लौटकर घर न आऊँगा। वासना समूह की पूर्णाहुति दे दी। और वे चुपचाप एकाएक अपने समृद्धि-सम्पन्न गृह से चल निकले। विवाहोत्सव से सुशोभित धन्य-धान्य पूर्ण गृह को, माता-पिता के पूर्ण प्रेम को, सज्जन सम्बधियों के सरस स्नेह को और सबसे बढ़कर यौवन अवस्था के सामने खड़े विकसित वसन्त को सर्वथा

परित्याग कर देना, तिलाञ्जलि दे देना श्री दयानन्द की प्रभु-प्राप्ति की गहरी लगन और तीव्र वैराग्य को प्रदर्शित करता है।

इसी प्रकार महात्मा टी०एल० वास्वानी ऋषि की प्रभु-प्राप्ति की कठोर साधना के सम्बन्ध में अपनी "पथप्रदीप" पुस्तक में लिखते हैं—"ऋषि दयानन्द अपनी ईश्वर की खोज के वीरता पूर्ण दिनों के एक भ्रमण का स्वयं वर्णन करता है—सर्दी की ऋतु है। पहाड़ों की चोटियाँ और मार्ग बर्फ से ढके हुए हैं। वह आगे किस प्रकार प्रस्थान करे। अलखनन्दा नदी बह रही है, वह उसे पार करने का निश्चय करता है। उसके कपड़े हलके और बहुत थोड़े हैं। सर्दी असह्य है। वह लिखता है—भूख और प्यास ने मुझे सता रखा था। मैंने एक बर्फ का टुकड़ा निगल लिया, पर भूख शान्त न हुई बह नंदी को पार करना प्रारम्भ करता है। नदी की तलहटी में छोटे छोटे नुकीले बर्फ के टुकड़े पड़े हैं, वे उसके नंगे पांवों को चुभते और काटते हैं, घाव हो जाते हैं और खून बहने लगता है। और वह नदी को पार कर भयानक सर्दी के कारण मूर्छित-सा हो जाता है।"

फिर वे आगे अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

"दयानन्द मेरी समझ में अपने जीवन की तपस्या और अपने दिव्य सन्देश के कारण लूथर से भी बढ़कर है।"

इसी प्रकार एक प्रसिद्ध पादरी रेवरेण्ड टी०जे० स्काट ऋषि की घोर तपस्या के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"सायंकाल मैंने जल के पास रेत में पड़े हुए एक फकीर को देखा जिसकी पवित्रता और अगाध विद्या के सम्बन्ध में मैंने बाजारों में मनुष्यों की भीड़ से सुना था। मैंने उनको छोटी सी फूंस की झोंपड़ी में बैठे हुए पाया, वे बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे, उनका शरीर हरक्यूलस के समान बृहत्-काय, विशाल और सुन्दर तथा चेहरा परोपकार पूर्ण प्रतीत होता था। वे लगभग बिल्कुल नग्न थे। मैंने उनको उन साधुओं की श्रेणी में पाया, जिन्होंने प्रभु-प्राप्ति के लिए संसार को सर्वथा त्याग दिया हो, और जो उसके सतत ध्यान में मग्न हों।"

भगवद्भक्त का दूसरा लक्षण है—

२—भगवान् में अनन्य प्रेम का होना, तथा अनन्यचित्त होकर उसकी ही उपासना (भक्ति) में तल्लीन रहना। प्रभु से प्रेम

करना ही परम हंस दयानन्द के पवित्र जीवन का पुनीत लक्ष्य था। प्रभु प्रेम का परिचय तो उनके मधुर-मिलन के लिए किए हुए सर्वस्व परित्याग से ही मिल जाता है। वे प्रभु-प्रेम के लिए ही जीते थे। जब वे प्रेम में मग्न हो प्रभु का यशोगान करने लगते, तो उनके नेत्रों से भगवदनुराग की अविरल अश्रुधारा बहने लगती थी। और जब वे प्रेम पुलकित हृदय से प्रभु के पवित्र प्रणवनाम का नाद भरी सभा में गुंजाते, तो सारी सभा में प्रभु-प्रेम की लहरें चलने लगतीं। शान्ति और आनन्द का साम्राज्य छा जाता था। वे सारी रातें प्रभु-चिन्तन तथा उनके नाम स्मरण में ही बिता देते थे, जैसाकि उनके जीवन चरित्र से पता चलता है। भला इससे बढ़कर परमात्मा-प्रेम तथा प्रभु भक्ति का उज्ज्वल उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा। महात्मा सुन्दरदास ने ऐसे प्रभु प्रेमोन्मत्त-भक्तों के सम्बन्ध में ही कहा है–

प्रेम लग्यो जब ईश्वर सों तब भूल गयो सिगरो घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरै इत ही तित नेकु रही न शरीर संभारा।।
श्वास उश्वास उठै सब रोम चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधाविधि, छांकि परयो रस पी मतवारा।।

ऋषि ने अपनी रचनाओं में जितना भगवद्-भक्ति पर बल दिया है, उतना शायद ही किसी अन्य विषय पर दिया हो। उनके सारे ग्रन्थ भगवद्-भक्ति से भरे पड़े हैं। महाराज ने अपने वेदभाष्य में पवित्र वेद मन्त्रों को प्रभु-परक लगाकर जितना भगवान् के गुणों का यशोगान किया है, उतना शायद ही किसी अन्य वेदभाष्यकार ने किया हो। उन्होंने अपने इतर ग्रन्थों में भी स्थान स्थान पर प्रभु भक्ति का उपदेश दिया है। सत्यार्थ-प्रकाश के सातवें समुल्लास में वे भगंवद्-भक्ति का उपदेश करते हुए लिखते हैं–

"जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार परमेश्वर की समीपता प्राप्त होने से सब दोष, दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीव के भी गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिए परमेश्वर की भक्ति अर्थात् स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना अवश्य करनी चाहिये।"

सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में वे प्रभु भक्ति का

उपदेश देते हुए लिखते हैं–

"जैसे समाधिस्थ योगीजन प्रभु ध्यान में मग्न हो जाते हैं, वैसे ही कम से कम एक घण्टा सब मनुष्यों को (अनन्यचित्त होकर) प्रभु की उपासना में मग्न हो जाना चाहिये।"

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भगवान् दयानन्द लिखते हैं–

परमेश्वर की नित्य-प्रति प्रार्थना और उपासना तुम सब को अनन्यचित्त होकर अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि जो मनुष्य नित्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करते हैं, उन्हीं उपासकों को परमकरुणामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्ष रूपी सुख प्रदान कर सदा के लिए आनन्द का भागी बना देते हैं।"

फिर इसी ग्रन्थ में वे लिखते हैं–

"परमेश्वर की उपासना अर्थात् योग-वृत्ति हां सब क्लेशों का नाश करनेवाली और सुख शान्ति आदि गुणों को प्रदान करनेवाली है।"

ऋषि दयानन्द ने अपनी "पंच महायज्ञ विधि" नामक पुस्तक में सबसे प्रथम स्थान ब्रह्म-यज्ञ अर्थात् प्रभु भक्ति को ही दिया है। उपर्युक्त पुस्तक में वे सन्ध्या के मन्त्रों का अर्थ करते हुए लिखते हैं–

प्रभु भक्त को प्राणायाम द्वारा अपने मन तथा आत्मा के अंदर जो अन्तर्यामी रूप से ज्ञान और आनन्द स्वरूप व्यापक परमेश्वर रम रहे हैं, उसमें अपने आत्मा को मग्न करके अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। जैसे गोताखोर जल में डुबकी लगाकर शुद्ध होकर बाहर आता है, वैसे ही सब जीवों को भी अपने अपने आत्मा को सच्चिदानन्द स्वरूप, व्यापक परमेश्वर में मग्न कर शुद्ध तथा निर्मल करना चाहिये।

उपर्युक्त ग्रन्थ में ही वे लिखते हैं–

"वही एक परमेश्वर हम सब का उपास्य देव है। जो मनुष्य उसको छोड़ दूसरे की उपासना करता है, वह पशु के समान बन कर सब दिन दुःख ही भोगता रहता है। इसलिए प्रभु के प्रेम में अत्यन्त मग्न हो अपने आत्मा और मन को परमेश्वर में जोड़कर सब मनुष्यों को पवित्र वेद-मन्त्रों द्वारा भगवान् की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिये।"

ऋषि के इन भक्तिपूर्ण वचनों से पता लगता है कि उनके हृदय में प्रभु के प्रति कितना गाढ़ अनुराग था। कितनी

अटल श्रद्धा थी। किस प्रकार वे सब मनुष्यों को भगवान् का अनन्य भक्त बनाना चाहते थे।

ऋषि दयानन्द ने मनुष्यमात्र को प्रभु-भक्ति का उपदेश दिया है। उन्होंने इतर सम्प्रदायों के अधिकार च्युत स्त्रियों तथा शूद्रों तक को भी पतित पावनी गायत्री के पुनीत जप का उपदेश प्रदान किया है। उनकी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि प्रत्येक नर-नारी प्रभु का अनन्य भक्त बने। महाराज ने आर्यों के अन्दर भगवद् भक्ति का भाव जागृत करने के लिये ही "आर्य्याभिविनय" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। जोकि भगवान् की सौ से अधिक भक्ति-रसभरी, प्रेम-पूर्ण प्रार्थनाओं से परिपूर्ण है। उपर्युक्त ग्रन्थ की भूमिका में अपने संस्कृत काव्य में भगवान् के मंगलमय अर्थात् प्रेममय स्वरूप का वर्णन करते हुए कैसी उत्तमता से उन्होंने प्रभु भक्ति के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। जैसा कि वे लिखते हैं-

विमलं सुखदं सततं सुहितं जगति प्रततं तदु वेदगतम्।
मनसि प्रकटं यदि यस्य सुखी, स नरोस्ति सदेश्वरभागधिकः।।
विशेषभागीह वृणोति यो हितं नरःपरात्मानमतीव मानतः।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया, स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः।।

इन दोनो श्लोकों का अर्थ महाराज स्वयं करते हुए लिखते हैं-

"जो ब्रह्म विमल, सुखकारक, पूर्णकाम, सदा तृप्त और जगत् में व्याप्त है, वही सब वेदों से प्राप्य है। जिसके मन में इस ब्रह्म की प्रकटता अर्थात् यथार्थज्ञान है, वही मनुष्य भगवान् के आनन्द का भागी है। और वही सदैव सबसे अधिक सुखी है। ऐसा नर धन्य है जो इस संसार में अत्यन्त प्रेम धार्मिकता, विद्या, सत्संग, सुविचारिता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता आदि शुभगुणों तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमेश्वर का आश्रय लेता है। वही जन सौभाग्यशाली है। क्योंकि ऐसा जन यथार्थ सत्यविद्या के द्वारा सम्पूर्ण दुःखों से छूटकर परमानन्द परमेश्वर का नित्य-संग जो मोक्ष है उसे प्राप्त करता है। फिर कभी जन्म-मरण रूपी दुःखसागर में गोते नहीं खाता, परन्तु जो विषयलम्पट, विचाररहित, विद्या-धर्म-जितेन्द्रिय-सत्संगरहित, छल-कपट अभिमान, दुराग्रह आदि दुष्टगुणों से युक्त है वह कभी भी मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह ईश्वरभक्ति से विमुख

है। ऐसा जन जन्म-मरणादि पीड़ाओं से पीड़ित होकर सदा दुःखसागर में ही डूबा रहता है। इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर तथा उसकी आज्ञाओं के विरुद्ध कभी भी कोई आचरण न करें, अपितु ईश्वर तथा उसकी आज्ञा में सदा तत्पर होकर इस लोक तथा परलोक की सिद्धि यथावत् करें। यही मनुष्य जीवन की कृत्कृत्यता है"।

उपर्युक्त 'आर्याभिविनय' की प्रभु प्रार्थनाओं में से हम ऋषि की कुछ प्रार्थनाओं के प्रेमरस का पान पाठकों को कराना चाहते हैं। इन प्रार्थनाओं में प्रभु भक्ति का कितना अनुपम रस भरा है इसका परिचय पाठकों को स्वयं मिल जायेगा। महर्षि जब प्रभु-प्रेम में मग्न हो उसके गुणानुवाद गाते, तो प्रभु के कई परम प्रिय अति मधुर नामों से भगवान् को पुकारने लग जाते थे। इसका परिचय उन्होंने आर्याभिविनय की पहिली प्रार्थना में ही दिया है। जिस में महाराज ने प्रथम प्रार्थना में ही प्रभु के प्रिय पावन लगभग अस्सी नामों से भगवान् को पुकारा है उनमें से प्रिय पाठकों के दिग्दर्शनार्थ कुछ यहाँ उद्धृत किए जाते हैं–

ऋषि की प्रार्थनाएँ–

१–हे सच्चिदानन्द! हे नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव! हे अद्वितीयानुपम, जगदादिकारण! हे करुणाकर अस्मत्पितः! हे परमसहायक! हे सकलानन्दप्रद! सकलदुःखविनाशक! हे अविद्यान्धकारनिर्मूलक! विद्यार्कप्रकाशक! हे अधमोद्धारक! पतितपावन! हे विश्वविनोदक! निरंजन! निर्विकार! सर्वान्तर्यामिन्! दीनदयाकर! सत्यगुणाकर! परमसुखदायक! राजविधायक! प्रीति-साधक! निर्बलपालक! आदि अनेक अनन्त विशेषण वाच्य मंगलप्रद प्रभो! आप सर्वदा सब के निश्चित मित्र हो। हमको सत्यसुख दायक सर्वदा आप ही हो। हे सर्वोत्कृष्ट स्वीकरणीय परमेश्वर आप सबसे परमोत्तम हो! अतः हमको परम सुख देनेवाले आप ही हो। प्रभो! हम जो कुछ मागेंगे सो आप से ही मागेंगे। क्योंकि सब सुखों का देनेवाला आपके सिवाय और कोई नहीं। हम लोगों को सर्वथा आपका ही आश्रय है। अन्य किसी का नहीं। इसलिए हम लोग सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, दयामय सबसे बड़े पिता को छोड़ कर नीच का आश्रय कभी न लेंगे। भगवन् आपका तो यह स्वभाव ही है कि अपने अंगीकृत को कभी नहीं छोड़ते।

२—हे परम मित्र! जो (भक्त) आपको आत्मादिदान (आत्म समर्पण) करता है, आप उनको व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सुख अवश्य प्रदान करते हो। हे प्राणप्रिय! अपने भक्तों को परमानन्द प्रदान करना आपका सत्यव्रत है, प्रभो! यही आपका स्वभाव हमको सदा सुख दायक है। हे परमैश्वर्यवान् प्रभो! हम हृदय से अत्यन्त प्रेमपूर्वक आपको गावें, आपकी स्तुति करें, आपकी कृपा से हमारा परमैश्वर्य बढ़ता रहे और परमानन्द को प्राप्त हों।

३—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम उत्तम विद्वानों तथा दिव्य गुणों सहित उत्तम प्रीति युक्त होकर सदा आप में रमण तथा आप का ही सेवन करनेवाले हों।

४—हे प्रभो! आप देवों के भी देव तथा उनको भी आपही परमानन्द प्रदान करनेवाले हो। आप सबके अत्यन्त आश्चर्ययुक्त मित्र, सर्व सुखकारक तथा सब के सखा हो। हे सहन शीलेश्वर! आपके समान हम लोग भी परस्पर प्रसन्नता पूर्वक एक दूसरे के रक्षक हों। आपकी कृपा से सदैव आपकी ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनेवाले हों। आपको ही पिता, माता, बन्धु, राजा, स्वामी, सहायक, सखा, सुहृद् तथा परम गुरु मानें। हम क्षण मात्र भी आपको भूलकर न रहें। आपके तुल्य या अधिक कभी किसी को न मानें। आपके अनुग्रह से हम लोग परस्पर प्रीतिमान्, रक्षक, सहायक तथा परमपुरुषार्थी हों। एक दूसरे के दुःख को न देख सकें। सब मनुष्यों को परस्पर निर्वैर, अत्यन्त प्रीतिमान् तथा पाखण्ड से रहित करें।

५—हे प्रभो! आप हमको अपने अनन्त परमानन्द के भागी करें। अपने उस दिव्यानन्द से हमको एक क्षण भी अलग न रखें। हे प्रभो! हम परस्पर प्रेम, परम वीर्य, और पराक्रम से निष्कलंक चक्रवर्ती राज्य को भोगें। हम सब सज्जन नीतिमान् हों। हममें परस्पर विद्वेष और अप्रीति न रहे। किन्तु अपना तन, मन और धन तथा विद्या इन सब को परस्पर सबके सुख भोग में ही परम प्रीति से लगादें। हे कृपासागर आप हमारे आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन त्रिविध तापों को शीघ्र दूर करदें। जिससे कि हम लोग सदा आपकी अखण्डोपासना में रत रहें।

६—हे न्यायाधीश प्रभो! आप अपनी कृपा से मुझको काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या, द्वेष,

विषयतृष्णा, नैष्ठुर्य, अभिमान, दुष्ट स्वभाव तथा अविद्यादि दुर्गुणों से छुड़ा सदा श्रेष्ठ कार्यों में ही यथावत् स्थित करो। मैं दीन होकर आपसे यही मांगता हूँ कि मैं आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थों में कभी प्रीति न करूँ।

७–हे सोम हे राजेश्वर! जो कोई प्राणी हम में पापी और पाप करने की इच्छा करनेवाले हैं, आप उन सब प्राणियों से हमारी रक्षा करो। नाथ! आप जिसके सच्चे मित्र बन जाते हो, उसका कभी नाश नहीं होता। इसलिए हमको आपकी सहायता से तिल मात्र भी दुःख तथा भय कभी नहीं होगा। जो आपका मित्र हो, उसको भला दुःख और भय कहाँ?

८–हे विज्ञान स्वरूप, अग्ने! आप अपनी अपार कृपा से हमें सुख से प्राप्त, और अत्युत्तम मोक्ष पद के प्रदान करनेवाले हो तथा हमारे रक्षक भी आप ही हो। हे स्वस्तिप्रद, परमात्मन्! आप अपनी अपार कृपा से हमारे सब दुःखों, पापों का नाश करके हमें परम सुख को प्राप्त कराओ। हमारे जीवन श्रेष्ठ हों। जैसे करुणामय पिता अपने पुत्र को सदा सुखी ही रखता है, वैसे आप भी सदा सुखी रखो। क्योंकि जब हम लोग बुरे होंगे, तब आपकी भी शोभा नहीं होगी। क्योंकि सन्तानों को सुधारने से ही पिता की शोभा बढ़ती है, अन्यथा नहीं।

९–हे सर्वेश्वर! मेरे नेत्र, हृदय, मन, बुद्धि, विज्ञान विद्या और सब इन्द्रियों को ईर्ष्या, द्वेष, निर्बलता, राग, चाञ्चल्य आदि विकारों से रहित करके सदा सत्य धर्मादि में स्थापित करो। आप बृहस्पति अर्थात् सबसे बड़े हो, सो अपनी बड़ाई की ओर देख के हमारे इस बड़े कार्य को भी आप अवश्य करो। जिससे हम लोग आपकी भक्ति तथा, आज्ञा पालन में सदैव तत्पर रहें। प्रभो! मेरे छिद्रों (अर्थात् इन्द्रियों की निर्बलताओं और दोषों) को आप ही ढ़ापें, अर्थात् दूर करें। आप सब भुवनों के पति हैं। इसलिये आपसे हम लोग बारम्बार प्रार्थना करते हैं कि आप सब दिन हम लोगों पर अपनी कृपा दृष्टि से कल्याण कारक हों। हे परमात्मन्! आपके विना हमारा कल्याण करनेवाला और कोई नहीं। प्रभो! हमको आपका ही सब प्रकार से भरोसा है, सो आप ही पूरा करेंगे।

१०–हे प्रभो! आप सदैव अजन्मा और अमृत स्वरूप हैं। आपकी कृपा से मैं अधर्म, अविद्या, और दुष्ट स्वभाव आदि को सर्वदा दूर फेंकूं। हम लोग आपकी ही अत्यन्त स्पर्धा

अर्थात् प्राप्ति की इच्छा करते हैं। जो प्राप्त होने में आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे, तो हमारा कुछ भी ठिकाना न लगेगा।

इस प्रकार की सैंकड़ों प्रार्थनाएँ प्रभु चरणों में विनत हो विरक्त दयानन्द ने भगवान् से की हैं। इन प्रभु-प्रेम भरी प्रार्थनाओं से पता लगता है कि दयानन्द के हृदय में प्रभु के प्रति कितना परम अनुराग अगाध-प्रेम और अटूट भक्ति थी। पाठक! देखें जिन शब्दों से ऋषि ने प्रभु को पुकारा है, उनमें कितना परमात्मा-भक्ति का उज्ज्वल रहस्य तथा माधुर्य भरा हुआ है। उनकी प्रार्थनाओं का एक एक शब्द किस प्रकार से उन की भगवदनुरागता और प्रभु-प्रेम का परिचय दे रहा है। जैसा कि हम पहिले लिख आए हैं कि ऋषिवर दयानन्द प्रभु के अनन्य भक्त होते हुए भी, वे अन्ध श्रद्धालु भक्त नहीं थे। वे केवल "रघुपतिराघव राजा राम" की धुन लगाकर ही सब में रमणशील राम को रिझाना नहीं जानते थे। निज जीवन को प्रभुमय बनाना और अपने जीवनोद्यान में प्रभु के सद्‌गुणरूपी सुमनों की सुरभि को सरसाना ही उनकी प्रभु-भक्ति का सार था। इसीलिए उन्होंने स्थान स्थान पर प्रभु भक्त को ब्रह्मचर्य आदि उत्तम गुण के अनुष्ठान का उपदेश दिया है। सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में वे भगवद्भक्ति के साधन बताते हुए लिखते हैं—

"योगाभ्यास द्वारा भगवान् के समीप होने और उसको सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिए जो साधन हैं, वे साधक को अवश्य करने चाहियें। अतः जो भक्त उपासना प्रारम्भ करना चाहे, उसके लिए उचित है कि वह किसी से वैर न रखे, सबसे प्रीति करे, सत्य बोले, मिथ्या कभी न बोले, चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे, जितेन्द्रिय हो, विषय लम्पट न हो, निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे, राग द्वेष छोड़ भीतर और बाहर पवित्र रहे। धर्मपूर्वक पुरुषार्थ करने से न लाभ में प्रसन्नता और न हानि में अप्रसन्नता करे। आलस्य को छोड़, सदा प्रसन्न होकर पुरुषार्थ किया करे, सदा सुख दुःख को सहन करे, और धर्म का ही अनुष्ठान करे, अधर्म का कभी नहीं, सदा सत् शास्त्रों को पढ़े पढ़ावे, सत्पुरुषों का संग करे, और 'ओ३म्' परमात्मा के इस पवित्र नाम का अर्थ विचार पूर्वक नित्य प्रति जप किया करे, अपने आत्मा को परमात्मा की आज्ञानुसार समर्पित कर दे।

यह है प्रभु भक्ति का समुज्ज्वल स्वरूप जिसको ऋषि

दयानन्द ने हमारे सम्मुख रखा है। केवल रखा ही नहीं प्रत्युत स्वयं भी अपने जीवन को उपर्युक्त सद्गुणों से सुसज्जित कर प्रभुमय बनाया है।

भगवद्-भक्त का तीसरा लक्षण है–

३–प्राणी–मात्र को प्रभु का प्रिय–पुत्र समझकर, उनसे सदा प्रेम करना, किसी से भी घृणा या द्वेष का व्यवहार न करना और उनके कल्याण के लिए सदैव तत्पर रहना, यहाँ तक कि प्राणिमात्र की हित साधना में अपना जीवन तक भी अर्पित कर देना।

ऋषि दयानन्द का सारा जीवन ही प्रेममय था। वे न केवल मनुष्य मात्र प्रत्युत प्राणी मात्र से प्रेम करते थे। पशु पक्षी से लेकर मनुष्य तक प्रत्येक प्राणी उनके प्रेम का पात्र था। वे जब किसी प्राणी की दयनीय दुःखद दशा को देखते तो उनका हृदय उसके दुःख से द्रवित हो जाता। उनके प्रेम पूर्ण स्वभाव का वर्णन श्रीमद्दयानन्दप्रकाश में निम्न शब्दों में किया है–"उनका हृदय कमल की पंखड़ियों के समान कोमल और मन सोमरस के समान रसीला था। उनका व्यवहार मृणाल के समान अति मृदु था, उनके कथनोपकथन की मधुरिमा तो मधुमयी मिठास को भी तिरस्कृत कर देती थी। महाराज का हृदय संकुचित तथा संकीर्ण न था किसी भी दीन दुखिया को देख उनके हृदय में करुणा तथा दया का प्रवाह बहने लगता था, किसी दीन दुखिया का आर्तनाद तथा करुणक्रन्दन कर्णगोचर होते ही उनके भीतर सरस सहानुभूति का सागर बहने लगता था, उनका हृदय तत्काल पिघल जाता, नेत्रों से अविरल अश्रुधाराएँ बहने लगतीं। और उस के दुःख को, संकट को दूर करने के लिए वे तत्काल कटिबद्ध हो जाते।"

महाराज जब देखते हैं कि अकिंचन माता अपने दिवंगत पुत्र को नदी में बहाकर उसके कफन तक को भी उतारकर अपने साथ लिए आरही है, तो उनसे नहीं रहा जाता। उस निर्धन माता की इस दयनीय–दशा पर वे जार–जार रोने लगते हैं। उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधाराओं का प्रवाह बहने लग जाता है।

महाराज जब गाड़ी में जुते हुए दलदल में फंसे बेजबान बैलों पर गाड़ीवान के बर्बररता पूर्ण दण्डे पड़ते देखते हैं,

तो उनका हृदय उन बैलों की व्यथा से व्यथित हो जाता है। वे न केवल आर्यावर्त प्रत्युत विश्व की प्रतिष्ठा के पात्र परम दयालु दयानन्द निज मान मर्यादा का कुछ भी विचार न कर, अपने वस्त्र उतारकर उस दलदल में घुस जाते हैं, और बैलों को गाड़ी से पृथक् कर अकेले ही गाड़ी को खैंचकर बाहर निकाल देते हैं।

महाराज जब प्रथम बार कुम्भ के मेले पर हरिद्वार जाते हैं तो भारत माता के अमृत पुत्रों की दुर्दशा को देख उनसे नहीं रहा जाता। वे इस महती दुर्दशा को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं, किन्तु जब वे स्वयं को भारतीय जनता में फैले घोर अविद्यान्धकार को दूर करने में असमर्थ पाते हैं, तो इस दुर्दशा-ग्रस्त दुःखित जीवों की खातिर अपने जीवन को और अधिक योगाग्नि में तपाने का निश्चय करते हैं। और केवल कौपीनशेष बनकर गंगा के तट पर हिमाच्छन्न हिमालय की कन्दराओं में दिगम्बर अवस्था में ही कठोर तप करना प्रारम्भ कर देते हैं। वे प्रभु पुत्रों के हित साधन में हिममय शीत को भी सहन करते हैं। और अपने को पूर्ण समर्थ बना, प्राणी-मात्र के कल्याण के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। महात्मा टी०एल० वास्वानी महाराज की प्राणीमात्र के कल्याणार्थ की गई उपर्युक्त कठोर तपस्या का निम्न शब्दों में वर्णन करते हैं—वे गंगा के किनारे दुबारा उच्च जीवन प्राप्त करने और समाधि लगाने के लिए फिर एकान्त वास करते हैं। वहाँ पर उनका अद्भुत जीवन है, कोई कपड़ा नहीं, केवल एक लंगोटी तन पर है। शिशिर ऋतु की ठण्डी हवाएँ चल रही हैं। पर कोई बिस्तर नहीं। वे रेती पर सोते हैं, उपवास करते हैं, प्रार्थनाएँ करते हैं, और समाधि में मग्न हो जाते हैं।

वे अविद्या-ग्रस्त दुःखित जीवों को दुःख सागर से पार करने के लिए अपने अठारह घण्टे की समाधि के सुख का भी परित्याग कर देते हैं। तथा अपना सारा जीवन प्राणिमात्र की हित साधना के लिए ही अर्पण कर देते हैं और अन्त में उनकी ही ख़ातिर हलाहल विष का प्याला पी अपनी जीवन लीला को समाप्त कर देते हैं।

एक बार गंगा तट निवासी एक तपस्वी महात्मा ने महाराज से कहा—बच्चा! यदि आप पहिले ही निवृत्ति मार्ग पर स्थिर

रहते, और इस परोपकार के पचड़े में न पड़ते तो आपकी इस जन्म में ही मुक्ति हो जाती। अब तो आपको मोक्ष प्राप्ति के लिए एक और जन्म धारण करना पड़ेगा। महाराज ने उत्तर दिया—"महात्मन्! अब मुझे अपनी मुक्ति की कुछ भी चिन्ता नहीं रही। जिन लाखों मनुष्यों की मुक्ति की चिन्ता मेरे चित्त को चलायमान कर रही है, उनकी मुक्ति हो जाए। मुझे भले ही कई जन्म क्यों न धारण करने पड़ें। दारुण दुःखों के त्रास से, दयनीय दीन दशा से, दुर्बल अवस्था से परम पिता के पुत्रों को मुक्ति दिलाते हुए मैं स्वयं ही मुक्त हो जाऊँगा।"

यह है ऋषिवर दयानन्द का प्राणि-मात्र के प्रतिप्रेम और उनके कल्याणार्थ अपने सर्वस्व तक को भी अर्पण कर देना। श्रीमद्दयानन्दप्रकाश में महाराज की परहित साधना का निम्न शब्दों में वर्णन किया गया है—

"उनकी काया का कल्पतरु सांसारिक कलह कल्पना के कलुषित कीचड़ से कोसों दूर था। लोक-हित की कल्याण-कामना से पूर्ण था। परार्थ और परमात्मा की प्रजा के पालनार्थ उनकी रचना हुई थी। अंगुष्ठ से लेकर शिखापर्यन्त उनमें पर-हित तथा पर-प्रेम पूर्ण हो रहा था। महाराज ने अपने को तन, मन धन से पर-हित तथा मनसा, वाचा कर्मणा परोपकार में ही समर्पित कर दिया था।"

उस दीनबन्धु दयानन्द के परोपकार-मय जीवन के चित्र का चित्रण करते हुए श्री टी०एल० वास्वानी लिखते हैं—"इस शक्तिशाली मनुष्य के कोमल हृदय में दीन और दलितों के लिए प्रेम भरा हुआ है। वह अपने पिता की सम्पत्ति और सुख पूर्ण घर को छोड़ता है, और दीनों के भ्रातृ-संघ में सम्मिलित हो जाता है। वह दृढ़ता की पाठशाला में संयम सीखता है, वह कई दिन तक उपवास करता है, वह ईटों का तकिया लगाकर केवल जमीन पर सोता है, वह दीनों और दुःखियों के उद्धार के लिए केवल लंगोटी लगाए स्थान स्थान पर घूमता है। वह राजा के महल की अपेक्षा गरीब की झोंपड़ी को पसन्द करता है। और पतितों और दलितों को अपने गले से लगा लेता है"। अपने प्रियाचरण तथा हित प्रदाता प्राणियों से प्रेम करने तथा उन पर दया दृष्टि करनेवाले तो प्रायः बहुत मिल जाते हैं, किन्तु ऐसे महान्-आत्मा बहुत कम मिलते हैं जो अपने अनिष्ट चिन्तन करनेवालों पर भी

उनकी दयनीय दशा को देख दया भाव दर्शानेवाले हों। महर्षि दयानन्द भी ऐसे ही महान्-आत्माओं में से थे, वे अपने अनिष्ट कर्त्ता पर भी सदा दया भाव ही दर्शाया करते थे। इस सम्बन्ध की अनेकों घटनाओं में से ऋषि की केवल एक घटना हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं-

एक समय ऋषि गंगा तट पर तप किया करते थे। और साथ ही वे अपने भक्तजनों को कुरीतियों और पाखण्ड आदि के छोड़ने, और सच्चे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बनने का उपदेश भी देते थे। ऋषि के उपदेशों को श्रवण कर जहाँ जिज्ञासु भक्तजन अपने को कृतकृत्य समझते और कुरीतियों आदि के परित्याग का पावन प्रण करते, वहाँ कई ढोंगी और पाखण्डी लोग उनके शत्रु बन जाते और महाराज का अहित चिन्तन करने के लिए तत्पर हो जाते, ऐसे ही पाखण्ड-प्रिय पुरुषों में अपने को ब्रह्म-पुत्र समझनेवाले एक ब्राह्मण देवता भी थे, जो महाराज के उपदेशों को सुन उनके शत्रु बन गए। वे जब प्रतिदिन प्रातः गंगा स्नान करने जाते तो महाराज को कठोर और कुत्सित वचन तथा गन्दी गालियाँ प्रदान करते जाते। यही उस ब्रह्म-पुत्र का प्रतिदिन का पूजा पाठ था। एक दिन वे ब्राह्मण देवता बिना गाली दिये चुप चाप ही महाराज के पास से गुजर गए। जब स्नान करके वापस लौटे तो महाराज ने उन्हें अपने पास बुलाया और प्रेम से पूछा कहो ब्राह्मण देवता, आज तुम अपना प्रतिदिन का पूजा पाठ कैसे भूल गए? ब्राह्मण ने रोकर उत्तर दिया, महाराज! तीन दिन से कुछ खाने को नहीं मिला। भूख सता रही है, ऐसी अवस्था में किसी को गाली देना तो दूर मनुष्य भगवान् का भजन भी भूल जाता है। क्षुधा से पीड़ित उस ब्राह्मण के दुःख भरे दयनीय वचनों को सुन महाराज के हृदय में दया आ गई, और पास में पड़े भक्तजनों द्वारा भेंट में अर्पित फलों और मेवा मिष्टान्न आदि पदार्थों की ओर संकेत करके कहा "जा इनमें से जितना तेरी इच्छा हो उठाकर लेजा, और इन्हें खाकर अपती क्षुधा को दूर कर।" भला इससे बढ़कर प्राणिमात्र पर प्रेम और दया दृष्टि दर्शाने का और उज्ज्वल उदाहरण क्या होगा?

महाराज के प्रेममय कोमल स्वभाव का 'श्रीमद्दयानन्दप्रकाश ने निम्न शब्दों में वर्णन किया है-

"उस परमहंस के पास कठोर प्रकृति के पुरुष भी प्रश्न

पूछने आते, और परुष व्यवहार भी करते, परन्तु वह प्राणी मात्र के परम हितैषी परमहंस प्रशान्त स्वभाव से कोमल और मधुर शब्द में उत्तर देते चले जाते। वे कटु किंवा परुष भाषण से सर्वथा परे रहते थे। उनकी प्रेम-मयी वाणी में कोई अद्भुत आर्कषण था, कोई अनिर्वचनीय प्रभाव था अथवा कोई अलौकिक आनन्द तथा रसास्वाद था, जिससे उनके प्रेमामृत से पूर्ण वचन सुनकर दुर्जन सज्जन बन जाता, पाषाण सम कठोर मनुष्य भी मोम बन जाता, क्रोध से सन्तप्त जन भी परम शान्ति लाभ करता। और अति विरोधी जन भी उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार से प्रभावित हो वैर बुद्धि छोड़ श्री चरणों की सेवा तक करने लग जाता था।"

भगवद्-भक्त का चौथा लक्षण है–

४–एक मात्र प्रभु की आज्ञा का पालन करना और उसकी इच्छा के विपरीत कभी न चलना।

प्रभु की आज्ञानुसार चलना ही ऋषि दयानन्द के जीवन का एक मात्र लक्ष्य था। भगवदाज्ञानुरूप ही वे अपने समग्र क्रियाकलाप किया करते। ईश्वराज्ञा के विपरीत वे किसी भी कार्य को चाहे उनके लिए कितना ही सुखकर तथा हितकर क्यों न हो, स्पर्श तक भी नहीं करते थे। जब महाराणा उदयपुर ने महाराज से कहा–भगवन्! क्या ही अच्छा हो, यदि आप पार्थिव पूजन का प्रत्याख्यान करना छोड़ दें। मेरे राज्य में लाखों रुपयों की सम्पत्ति सम्पन्न श्री एकलिंग का मन्दिर है। यहाँ तक कि मेरा राज्य तक भी उसी एकलिंग महाराज के समर्पित है। आप उसके महन्त बन जाएँ, चाहे आप स्वयं प्रतिमापूजन न करें, किन्तु उसका प्रत्याख्यान भी न करें। महाराज ने महाराणा की इस मनोगत प्रार्थना को सुनकर उत्तर दिया–"राजन्! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँ, या परमेश्वर की। मैं चाहूँ तो आपके राज्य की सीमा को एक दौड़ में पार कर सकता हूँ। किन्तु भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करके, उसके विशाल राज्य से कैसे पार हो सकूंगा।"

महाराज प्रभु-आज्ञा पालन में महान् से महान् कष्ट तथा संकट सहन करने के लिए भी सर्वदा उद्यत रहते थे। जिस समय महाराज जोधपुर के निमन्त्रण पर अजमेर से जोधपुर जाने लगे, तो आर्य पुरुषों ने हाथ जोड़कर महाराज से करबद्ध प्रार्थना की–भगवन्! आप जोधपुर न पधारें। वहाँ के लोग

बहुत क्रूर तथा कठोर स्वभाव के होते हैं, इस मरु-भूमि के मनुष्य मानव का अनिष्ट करने में जरा भी संकोच नहीं करते। भक्तजनों की इस विनम्र-विनय को सुन ऋषिवर उत्तर देते हैं—"परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए यदि अज्ञानी-जन मेरे जीते जी मेरी अंगुलियों को काट काट कर बत्ती का भी काम क्यों न लें, किन्तु दयानन्द प्रभु-आज्ञा का परित्याग कभी न करेगा। उस जगदीश्वर की आज्ञा है कि मैं सन्मार्ग च्युत जीवों को कल्याण का मार्ग दिखाऊँ, अतः मैं जोधपुर अवश्य जाऊँगा।" प्रभु की आज्ञा पालन में अपने जीवन तक की भी परवाह न करने का श्रेय भक्त-शिरोमणि भगवान् दयानन्द को ही प्राप्त है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में भी प्रभु-आज्ञा पालन का स्थान स्थान पर उपदेश दिया है। वे ऋग्वेद भाष्य में लिखते हैं—

"जो मनुष्य जगदीश्वर का आश्रय और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, और विद्वानों के संग से अति पुरुषार्थी बनकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं, वे सकलैश्वर्य सम्पन्न होकर सब काल में सदा सुखी रहते हैं।"
—ऋग्वेद भाष्य

भगवद्-भक्त का पांचवां लक्षण यह है कि—

५—वह भगवान् को ही एक मात्र अपना परम-रक्षक तथा सहायक समझकर निर्भय जीवन व्यतीत करे। विश्व की भारी से भारी आपत्ति तथा शक्ति से भी भयभीत न हो।

महाराज उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही एकमात्र अपना परम सहारा तथा रक्षक समझ निर्भय जीवन व्यतीत करते थे। भक्त तुकाराम के कथानुसार "हरिचिया भक्ता नाहिं भय चिन्ता" भगवान् की छत्र-छाया के नीचे निवास करते हुए वे किसी से भी भयभीत नहीं होते थे। भक्त-वत्सल भगवान् का उनको अटल भरोसा था। इसलिए वे भारी-से-भारी आपत्ति तथा संकट में भी घबरा कर निज कर्त्तव्य पथ से विचलित नहीं होते थे।

क्रूर-से-क्रूर तथा हिंसक प्राणी भी उन्हें भयभीत नहीं कर सकता था। अपनी साधकावस्था में लगातार १५ वर्ष तक गंगा, नर्मदा के तट पर घने-से-घने भयावह वनों में अपने जीवन को व्यतीत करना, उनकी निर्भयता का प्रबल प्रमाण

है। वे सत्य का प्रकाश करने में बड़े-बड़े राजों महाराजों से भी नहीं डरते थे। महाराज भरी सभा में जोधपुर जैसे नरेशों को वेश्यागमन, आदि दुर्व्यसनों के दोष दर्शा, उनसे दूर रहने का उपदेश देते थे। वे भारत के जंगीलाट जैसे उच्च सत्ता-सम्पन्न लोगों के सम्मुख भी निर्भय होकर उनकी धर्म पुस्तक के अलीक सिद्धान्तों की समालोचना किया करते थे। एक समय भगवान् दयानन्द केवल कौपीनावशेष दिगम्बर अवस्था में ही किसी स्टेशन के प्लेट-फार्म पर भ्रमण कर रहे थे। उसी प्लेट-फार्म पर एक गौरांग अफसर भी अपनी गौरांगना सहित यातायात कर रहा था। जब उसने दूर से दयानन्द को दिगंबरावस्था में देखा, तो निज-शासन के गर्व से गर्वित उस गौरांग-प्रभु को बहुत अनुचित प्रतीत हुआ। स्टेशन मास्टर को जाकर कहा, जाओ! उस नग्न साधु को कहो कि वह यहाँ से चला जाए। जब स्टेशन मास्टर ने महाराज से नम्र शब्दों में निवेदन किया, तो महाराज ने उत्तर दिया—जाओ, उस अंग्रेज को जाकर कह दो-दयानन्द उस समय का दिगम्बर साधु है, जब कि तुम्हारे मां-बाप हवा और आदम अदन के बाग में नग्न फिरा करते थे।

ऋषि दयानन्द भगवान् पर अटल विश्वास के कारण ही घोर आपत्तियों तथा संकटों से नहीं घबराते थे। महाराज जब बुराइयों और कुरीतियों का खण्डन करते तो रुढ़ि-प्रिय पुरुष उनके प्रबल विरोधी बन जाते। यहाँ तक कि उन्हें मारने और विष तक देने को तैयार हो जाते किन्तु भगवान् दयानन्द इसकी तनिक भी परवाह न करते हुए अपने मधुर उपदेशों को अविच्छिन्न प्रवाह से जारी रखते थे। फर्रुखाबाद में कुछ सुधार विरोधी मनुष्य महाराज के प्रबल-विरोधी बन गए। यहाँ तक कि वे उनकी जीवन-लीला को समाप्त करने पर ही कृत-संकल्प हो गए। जब इस बात का महाराज के भक्तजनों को पता लगा, तो वे श्री चरणों में उपस्थित होकर कहने लगे—भगवन्! इस नगर में कुछ लोग आपके बहुत विरोधी हो रहे हैं। वे आपके अनिष्ट-चिन्तन के लिए भी उद्यत हो गए हैं सम्भव है वे यहाँ आकर आपको कुछ कष्ट दें। अतः आपकी आज्ञा हो तो आज रात को हम श्री चरणों के पास ही सो जाएँ। भक्तजनों की इस बात को सुन भगवान् दयानन्द ने उत्तर दिया—प्रिय महाशयो! सन्मार्ग-च्युत संसारी-जीवों के

उद्धार का महान् कार्य मैंने परिमित-शक्ति पुरुषों के आश्रय पर प्रारम्भ नहीं किया। अपितु उस सर्व-शक्तिमान् भवभय-हारी भगवान् के भरोसे तथा विश्वास पर ही किया है। वे सर्वदा मेरे अंग-संग हैं। अतः मैं किसी से भी भयभीत नहीं हो सकता। आप लोग निश्चित ही अपने अपने गृह पर जाकर शयन करें। इतना ही नहीं प्रत्युत आज तक तो मैं अपनी कुटिया के अन्दर ही शयन करता था, किन्तु आज से कुटिया के बाहर ही सोया करूँगा।

ऋषि की निर्भयता का श्री टी०एल० वास्वानी ने "पथ-प्रदीप" पुस्तक में निम्न शब्दों में वर्णन किया है—

"जब हम एकान्तवास से बाहर आते हुए, और दूसरों को अपना सन्देश सुनाने के लिए खड़े हुए उसके चित्र को सम्मुख देखते हैं, तो एक प्रभावशालिनी आकृति सामने आ जाती है। केवल जांघ तक का अंगोछा उसके शरीर पर है। रुढ़िवादी पण्डे और पुरोहित उसके आगमनमात्र से ही भयभीत हो जाते हैं, किन्तु वह स्वयं भय को जानता तक नहीं। क्योंकि उसके हृदय में यह वैदिक आकांक्षा भरी है कि मैं निर्भय बनकर उस परमज्योति को प्राप्त करूँ।"

उपर्युक्त पुस्तक में पुनः एक स्थान पर लिखा है—दयानन्द निर्भय था क्योंकि वह जानता था कि ईश्वर उसके साथ है। और ईश्वर उसे नहीं छोड़ सकता।"

काशी की पण्डित मण्डली ने जब देखा कि हम दयानन्द को शास्त्रार्थ में नहीं जीत सकेंगे। सम्भव है उस प्रतिवादी भयंकर परम-तार्किक दण्डी दयानन्द के सम्मुख हमें पराजय का मुख देखना पड़े। तब उन्होंने महाराज को अपमानित करने के लिए नाना कुत्सित उपायों को प्रारम्भ कर दिया। काशी के गुण्डों की जेबों को गर्म करके उन्हें महाराज को विविध-व्यथाएँ पहुँचाने के लिए तैयार किया गया। अपने छात्र वर्ग को उकसाया गया, इस सब दृश्य को देख और सुनकर महाराज के प्रिय शिष्य बलदेव ने नतमस्तक हो महारराज से निवेदन किया। भगवन्! काशी का वातावरण आपके सर्वथा विपरीत बन रहा है। पण्डित वर्ग अपनी पराजय को प्रच्छन्न रखने के लिए आपको नाना प्रकार से अपमानित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। सारी काशी एक ओर है और आप अकेले एक ओर, अतः इस मौके पर यदि पण्डितों से शास्त्रार्थ न

कर यहाँ से प्रस्थान ही कर दिया जाए तो उत्तम होगा। भयव्याकुल भक्त बलदेव की इस बात को सुन महाराज ने मुस्करा कर कहा–

बलदेव! कुछ भी चिन्ता मत करो। योगी जनों का यह दृढ़ विश्वास है कि अविद्या की तमोराशि को सत्य का सूर्य अकेला ही जीत लेता है। बलदेव! जो मनुष्य पक्षपात का परित्याग करके केवल लोकहितार्थ ईश्वर की आज्ञानुसार सत्य का उपदेश करता है, उसे भय कहाँ? सत्पुरुष किसी से भयभीत होकर सत्य को नहीं छुपाया करते। जीवन जाए तो जाए परन्तु वे अन्तरात्मा के आदेश को नहीं छोड़ते। बलदेव! चिन्ता किस बात की है। एक मैं चेतन आत्मा हूँ, एक ही सर्वशक्तिमान् परमात्मा है। और एक ही पवित्र वैदिक धर्म, दूसरा है कौन जिससे डरें, और भयभीत हों" ऋषि की इन जीवन घटनाओं से पता लगता है कि वे किस प्रकार एक मात्र प्रभु को ही अपना परम रक्षक समझ निर्भय जीवन व्यतीत करते थे।

प्रभु भक्त का छठा लक्षण यह है कि–

६–वह जितेन्द्रिय हो, विषय लम्पट कभी न हो–

ऋषि दयानन्द पूर्ण जितेन्द्रिय थे। आजन्म अखण्ड ब्रह्मचर्य के कठोर व्रत का पालन करना उनके पूर्ण जितेन्द्रिय होने का प्रबल प्रमाण है। सकल इन्द्रियों में दो इन्द्रियों अर्थात् जिह्वा तथा विषयेन्द्रिय को वश में करना अति दुष्कर माना गया है। किन्तु भगवान् दयानन्द ने इन दोनों इन्द्रियों को पूर्णतया अपने वश में किया हुआ था। सम्पत्ति–सम्पन्न पिता के पुत्र होते हुए भी महाराज जब गंगा यमुना के तट पर विजनवनों में विचरण करते थे, उस समय उनको जैसे भी रूखे सूखे खाद्य पदार्थ मिलते, उन पर ही अपना निर्वाह कर लिया करते। इतना ही नहीं प्रत्युत भोजन के समय श्रद्धा भक्ति से जो भी भक्त महाराज के लिए सबसे पहले भोजन लाता, वे चाहे रूखे सूखे ज्वार बाजरा के टुकड़े भी क्यों न हों, तो भी महाराज उन्हें प्रेमपूर्वक सहर्ष स्वीकर कर लेते, और पश्चात् में आए मिष्टान्नादि उत्तम पदार्थों को भी स्वीकार नहीं करते थे। इससे ज्ञात होता है कि उनको अपनी रसनेन्द्रिय पर कितना पूर्ण अधिकार था। गंगा के तट पर एक नाई ने महाराज से निवेदन किया आप कृपा कर आज मेरा भोजन स्वीकार करिये। वह महाराज के लिये [illegible] के मोटे मोटे टिक्कड़ बना

कर लाया ऋषि ने उन्हें बड़े आनन्द और प्रेम से खा लिया। लोगों ने कहा महाराज! आपने तो नाई के हाथ की रोटी खा ली। तब महाराज ने हंस कर कहा भाई मैंने तो जौ चने की रोटी खाई है। नाई की तो खाई नहीं।

भगवान् दयानन्द ने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था। उनका सूर्य सम देदीप्यमान तेजोमय मुख-मण्डल, शरीर में अगाध, बल पराक्रम का होना ही उनके पूर्ण ब्रह्मचर्य को प्रकट करता है। ब्रह्मचर्य के परम भक्त तथा उसे एक मात्र अपने जीवन का अंग बनानेवाले महामना महात्मा-गांधी भी महाराज के अखण्ड ब्रह्मचर्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा किया करते थे। महात्माजी ने एक बार तो यहाँ तक कह दिया था कि-"जब मैं ऋषि दयानन्द के अखण्ड ब्रह्मचर्य की ओर दृक्पात करता हूँ तो वह मेरी ईर्ष्या का विषय बन जाता है" महाराज, मन, वचन, कर्म से अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। जब महाराज के साथ शास्त्रार्थ करने पर मथुरा के प्रबल-पण्डे पूर्णतया परास्त हो जाते हैं, तो महाराज को पराजित करने का और कोई चारा न देख उनके चारित्र्य-चन्द्रमा को कलंकित करने का कुत्सित प्रयत्न करते हैं। वे मथुरा नगरी की प्रसिद्ध परम सुन्दरी गणिका को महाराज के अखण्ड ब्रह्मचर्य को खण्डित करने के लिए उन के पास भेजते हैं। भगवान् दयानन्द निर्जनवन में प्रभु ध्यान में मग्न हैं। जब वे भगवच्चिन्तन से निवृत्त हो निज नेत्र कमलों को खोलते हैं तो सन्मुख एक सौन्दर्य सम्पन्न सुन्दरी को देखते हैं। उसको देखते ही महाराज के मुखारविन्द से सहसा ये शब्द निकलते हैं-"माता तूं यहाँ कहाँ" धन्य हो ऋषि दयानन्द! तुम धन्य हो! तूं ने बड़े बड़े वीरों तथा विरक्तों को भी विषय-तृष्णा रूपी तीर मार कर परास्त करनेवाले "मार" (कामदेव) को भी मार कर परास्त कर दिया। अपनी विषय वासना की तृप्ति के लिए जिस वेश्या के पीछे लग कर आजकल के जगद् गुरु कहलानेवाले महन्त श्रद्धालु भक्तों से भगवद-भक्ति के नाम पर एकत्रित किए लाखों रुपयों को बरबाद कर देते हैं, उससे कई गुना सौन्दर्य सम्पन्न, और काम-वासना की पूर्ति के लिए ही आई वेश्या को विजन वन में भी तूं माता कहकर पुकारता है। जहाँ स्वयं अपने को जगद्-गुरु कहनेवाले तथा भगवान् कृष्ण पर कुत्सित लीलाओं का आरोप लगाकर उनका अनुकरण करनेवाले

आजकल के महन्त पतित वेश्या को पत्नी बनाने में भी संकोच नहीं करते, वहाँ तू उस पतित वेश्या के द्वारा दिलवाए गए हलाहल विष का प्याला पीता है, केवल इसलिए कि तूं इसके इस कुत्सित कर्म को घृणा की दृष्टि से देखता है।

जैसा कि हम पहले लिख आए हैं, महाराज का सुन्दर तथा सुडौल शरीर उनका तेजस्वी मुखमण्डल उनकी अलौकिक प्रतिभा उनके पूर्ण जितेन्द्रिय होने का प्रबल प्रमाण है। उनकी दिव्य देह के सम्बन्ध में श्रीमद्दयानन्द प्रकाश में निम्न उद्‌गार प्रकट किए गए हैं–

"लोग स्वामीजी के सुन्दर तथा तेजस्वी मुख मण्डल को देखते हुए तृप्त न होते थे। उनके विकसित एवं विशाल नेत्र सदा करुण रस से पूर्ण रहते थे, उनमें कोई अपूर्व आकर्षण तथा अलौकिक प्रभाव था। कोई विचित्र मोहिनी शक्ति थी। उनकी नासिका तथा दोनों भौंए अत्यन्त सुन्दर तथा परम सुहावनी थीं और उनके ऊपर अर्धचन्द्राकार भव्यभाल बहुत भला प्रतीत होता था। उनके कन्धे तथा पार्श्व परिपुष्ट थे। उनकी जघाएँ कदली स्तम्भ सम सुगठित थीं, किं बहुना उनका प्रत्येक अंग प्रत्यंग उनके मनोहर रूप के अनुरूप, तथा उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य का पूर्ण परिचायक था।"

सिन्ध के प्रसिद्ध सन्त टी०एल० वास्वानी अपनी 'पथ-प्रदीप' पुस्तक में महाराज के अखण्ड ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में लिखते हैं–"मैं उस बाल ब्रह्मचारी के सौन्दर्य पर मुग्ध हूँ। वह एक महान् शक्तिशाली, तपस्वी और बाल ब्रह्मचारी था। इसलिए मैं प्रेम पूर्ण श्रद्धा के साथ उसके आगे अपना सिर झुकाता हूँ"। उस अखण्ड ब्रह्मचर्य के पूर्णादर्श भगवान् दयानन्द ने काम वासना पर किस प्रकार से विजय प्राप्त की थी। इसका वर्णन वे स्वयं करते हैं–

मेरठ में महाराज से एक महाशय ने विनम्र भाव से पूछा भगवन्! सब को वशीभूत करनेवाले कामदेव से आप कैसे बच गए। इसके उत्तर में महाराज ने अपने जीवनादर्श में पूर्ण-तथा परिणित उपायों को उपदेश रूप में कहा–

काम वासना जीतने का उपाय यह है कि एकांत स्थान में रहे। नाचादि कभी न देखे, अनुचित रूप का देखना, अनुचित शब्द का सुनना, अनुचित विषयों का स्मरण करना, परित्याग कर दे। स्त्रियों की ओर न निहारें, नियम पूर्वक जीवन व्यतीत

करे। इन साधनों से काम वासना मन्द पड़ जाती है। मनुष्य जितना तृष्णा की तृप्ति का यत्न करेगा, वह शान्त न होकर उतनी ही अधिक बढ़ती जायगी। इस लिए विषय वासना का चिन्तन भी न करे। जितेन्द्रिय बनने के अभिलाषी को रात दिन भगवान् के पवित्र ओ३म् नाम का जप करते रहना चाहिये। रात्रि को यदि जप करते करते आलस्य बढ़ जाए, और निद्रा आने लगे तो दो घण्टाभर गाढ़ निद्रा लेकर पुनः उठ बैठे, और पूर्ववत् पवित्र प्रणव का जप करना प्रारम्भ कर दे।"

—श्रीमद्दयानन्दप्रकाश

ऋषि के इन स्वानुभूत सद् वचनों से पता चलता है कि किस प्रकार उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालनार्थ अपने को परम तपस्वी तथा पूर्ण संयमी बनाया था। किस प्रकार वे पूर्ण जितेन्द्रिय बनकर अहर्निशि प्रभु चिन्तन में ही रत रहते थे।" साधु टी. ऐल. वासवानी ऋषि के संयम के सम्बन्ध में लिखते हैं—"लोग आश्चर्य करते हैं कि दयानन्द गंगा के किनारे केवल एक लंगोटी लगाकर सरदी और धूप में कैसे बैठा रहता था। वे भूल जाते हैं कि उसने आत्म-संयम से अपने शरीर को चट्टान के समान दृढ़ बना लिया था।

भगवद्-भक्त का सातवां लक्षण है—

७—लोकैषणा का सर्वथा परित्याग करना।

महात्मा पुरुषों का कहना है कि पुत्रैषणा और वित्तैषणा तो सम्भवतः छूट भी सकती है, किन्तु लोकैषणा का छूटना बड़ा कठिन है। बड़े बड़े महात्मा, योगी, ऋषि-मुनि तथा तपस्वी जन भी इस लालची लोकैषणा के पीछे लग जाया करते हैं। किन्तु भगवान् दयानन्द लोकैषणा से सर्वथा कमल-पत्रवत् अलिप्त थे। उन्होंने कामिनी, काञ्चन और कीर्ति का सर्वथा परित्याग कर दिया था। वे कोई भी शुभ कार्य अपनी मान प्रतिष्ठा या कीर्ति के लिए नहीं करते थे। वे अपनी विद्या, सदाचार तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य के कारण सारी आर्य-जाति की पूजा के पात्र होते हुए भी सदा अपने को छोटा ही दर्शाया करते थे। एक दिन एक भक्त ने उनकी अगाध विद्या तथा ब्रह्मतेज को देखकर कहा भगवन्! आप तो महर्षि हैं। इसके उत्तर में महाराज ने कहा—चाहे इस समय मुझे आप कुछ ही कहलो, किन्तु यदि मैं प्राचीन ऋषियों के काल में पैदा होता तो उनकी पाठशाला का एक विद्यार्थी ही होता।

लाहौर के आर्य-पुरुषों ने महाराज को अपनी समाज का प्रधान बनाना चाहा, किन्तु उन्होंने इससे साफ इन्कार कर दिया। जब वहाँ के आर्य-बन्धुओं ने पुनः आग्रह पूर्वक प्रार्थना की—अच्छा भगवन्! यदि आप प्रधान-पद को स्वीकार नहीं करते तो हम आपको अपनी समाज का परम सहायक ही बना देते हैं। यह सुनकर महाराज ने उत्तर दिया—यदि आप मुझे परम सहायक बनाते हो तो परमात्मा को क्या बनाओगे! काशी शास्त्रार्थ में रूढ़िप्रिय पंडितों और उनके चेले चांटों ने महाराज का घोर अपमान किया, उनके ऊपर ईंट पत्थर और जूते तक फेंके गये, किन्तु फिर भी ऋषिवर दयानन्द अपने ध्रुव धैर्य से किञ्चित् भी विचलित नहीं हुए। काशी में एक प्रतिष्ठित पुरुष महाराज का कट्टर विरोधी था। उसने मन में सोचा आज दयानन्द का घोर अपमान हुआ है। महाराज इन दिनों आनन्द बाग में निवास किया करते थे। अतः उस प्रतिष्ठित पुरुष ने विचार किया चलकर देखें तो सही दयानन्द की क्या दशा है। यह सोच कर वे उनके निवासस्थान पर जाते हैं वहाँ जाकर वे क्या देखते हैं कि महाराज आनन्दमग्न हो आनन्द वाटिका में भ्रमण कर रहे हैं। उनके मुखमण्डल पर उपर्युक्त अपमान का किञ्चित् भी चिह्न दिखलाई नहीं पड़ता। दृश्य देख वे महाराज की मुक्त कण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। पूना नगर में महाराज के पाखण्ड-प्रिय विरोधी व्यक्तियों ने उन्हें अपमानित करने के कुत्सित उद्देश्य से एक मनुष्य को नकली दयानन्द बनाकर, उसके गले में जूतों का हार पहिनाकर, गधे पर चढ़ाकर बाजार में जलूस निकाला। इस दृश्य को देख ऋषि के परम भक्त गोविन्द रानाडे ने महाराज से कहा भगवन्! आज तो पूना के पाखण्ड-प्रिय पोप आपका घोर अपमान कर रहे हैं। यह सुनकर महाराज ने हंसकर उत्तर दिया—"वे भोले जन नकली दयानन्द का अपमान कर रहे हैं, असली दयानन्द की तो वे ख्याति ही कर रहे हैं"।

जब माधव नाम के व्यक्ति ने महाराज का अपमान किया तो उनके शिष्य बलदेव कुपित हो गए। ऋषि दयानन्द की इस कुपित दशा को देख ऋषि ने सान्त्वनामय शब्दों में कहा—"बलदेव! कोप किस पर? ये तो हमारे भाई हैं। इन्हीं की कल्याण कामना करते ही रात दिन बीतते हैं। बलदेव! शान्त हो जाइये। मेरे मान अपमान पर तनिक भी ध्यान न

दीजिए। एक धर्मोपदेशक को तो भूमि के समान सहनशील होना चाहिये।"

प्रभु-प्रेमी सन्त अपमान को सहन तो करते ही आए हैं, किन्तु अपने अपमानकर्ताओं पर करुणा, और दया दर्शानी यह दयालु दयानन्द के ही भाग्य में आया है—

अमृतसर में शास्त्रार्थ के समय पौराणिक पंडितों और उनके चेले चांटों ने भारी ऊधम मचाया, उन पर ईंट और पत्थर भी फैंके गए, यह दृश्य देख महाराज के भक्त जन अत्यन्त कुपित हो, महाराज के अपमान का बदला लेने के लिए तत्पर हो गए। उस समय अपने कुपित भक्तों को शांत करते हुए महाराज ने जो वाक्य कहे वे स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं। महाराज ने कहा मतमतान्तरों रूपी मदिरा से उन्मत्त जनों पर कदापि कोप नहीं करना चाहिये। हमारा काम तो एक चिकित्सक वैद्य का है। उन्मत्त जनों को वैद्य उनके रोग निवारणार्थ औषध देता है, न कि उनकी पागल लीला पर कुपित हो उन्हें मार पीट करता है। आप निश्चय जानिए आज जो अज्ञानी जन मुझ पर ईंट पत्थर फेंकते और धूल बरसाते हैं। कल वे ही आप लोगों पर फूलों की वर्षा करेंगें। एक भक्त ने उपर्युक्त घटना के पश्चात् महाराज से आकर कहा—आज तो दुष्ट जनों ने आप पर बहुत राख धूल फैंकी और आपका घोर अपमान किया। उत्तर में महाराज ने कहा—"परोपकार और परहित करते समय अपना मानापमान और पराई निन्दा का परित्याग करना ही पड़ता है। इसके विना सुधार नहीं हो सकता। मैंने आर्य समाज रूपी उद्यान लगाया है। अतः मेरी अवस्था एक माली की-सी है। पौधों में खाद डालते समय राख और मिट्टी माली के सिर पर भी पड़ जाया करती है। मुझ पर राख धूल चाहे कितनी ही पड़े मुझे इसकी जरा भी चिन्ता नहीं। परन्तु यह वाटिका हरी भरी रहे और फले फूले यही मेरी हार्दिक कामना है।"

प्रायः देखा जाता है कि थोड़ी-सी साधना के साधक, तथा कतिपय चेलों के गुरु अपने को जगद्गुरु, अवतार तथा सिद्ध मान बैठते हैं। और उनकी सर्वदा यही प्रबल अभिलाषा रहती है कि लोग सदा मेरी मान, प्रतिष्ठा और बड़ाई किया करें। इतना ही नहीं प्रत्युत उनकी यह भी प्रबल इच्छा रहती है कि मरने के बाद भी लोग हमारी समाधि या प्रतिमा बना

कर उसकी पूजा अर्चना किया करें। किन्तु देव दयानन्द इन सब बातों से सर्वदा दूर और अलिप्त ही रहते थे। इसलिए उन्होंने कभी भी अपने को धर्मगुरु या अवतार सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। भगवान् दयानन्द को जब अपने योग बल से पता लगता है कि आज मेरे प्राण पखेरू इस पार्थिव देह से पृथक् होनेवाले हैं, तो वे अपने भक्तजनों को बुलाकर आदेश देते हैं देखो! मेरी अस्थियाँ किसी एक स्थान में मत गाड़ना, अपितु किसी खेत में जाकर बखेर देना। कहीं मेरे पीछे भी मेरे भक्तजन मुझे अवतार या पैगम्बर मान मेरी पूजा अर्चना न करने लग जाएँ। महाराज के जीवन में इस प्रकार के लोकैषणा परित्याग के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार की मान प्रतिष्ठाओं और लोकैषणाओं का परित्याग कोई परमात्मा का अनन्य भक्त ही कर सकता है।*

---

* ऋषि दयानन्द ने लोकैषणा का सर्वथा परित्याग किया हुआ था, इसके लिए एक अद्‌भुत उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

काशी के पण्डितों ने विचारा कि हम दयानन्द को सम्मुख शास्त्रार्थ में पराजित नहीं कर सकते। सामने जाते ही वेद में मूर्त्तिपूजा दिखाये जाने की बात आयेगी। ऐसी अवस्था में सब पण्डितों ने बहुत बड़ा प्रलोभन दिया। अपने एक प्रतिनिधि को ऋषिवर के पास भेजा कि काशी के पण्डित अमुक स्थान में रात्रि के दो बजे आपसे भेंट करना चाहते हैं। तो ऋषि ने कहा—''रात में क्यों? दिन में क्यों नहीं?'' तो प्रतिनिधि दूत ने कहा—''दिन में पण्डित लोग लज्जा अनुभव करेंगे।'' ऋषिवर ने स्वीकृति दे दी और रात्रि को ईश्वर विश्वास के भरोसे पण्डितों की सभा में पहुँच गये। उनके पहुँचते ही सारे पण्डित समुदाय ने उठकर ऋषि जी का स्वागत किया और एक सर्वोच्च आसन पर विराजमान कराया। तदनन्तर ऋषि ने कहा—''कहिए! क्या आदेश है?'' स्वामी विशुद्धानन्दजी ने कहा—''महाराज! एक निवेदन है। आप मूर्त्तिपूजा का खण्डन छोड़ दीजिए।'' स्वामी जी ने कहा—''वेद में दिखलाओ।'' तो स्वामी विशुद्धानन्द जी ने कहा—''यदि वेद में मूर्त्तिपूजा का विधान होता तो हम प्रथम वार ही दिखला देते। आपके उपदेश से हज़ारों पण्डितों का गुज़ारा छूट रहा है।'' ऋषि जी बोले—''तो बात गुजारे की है, सचाई की तो नहीं।''

पुनः पण्डितों ने कहा—''महाराज! एक निवेदन और है कि आप मूर्त्तिपूजा का मण्डन न करें। केवल चुप रहें। हम सब मिलकर आपको विष्णु का कलियुगी अवतार घोषित कर देंगे। प्रत्येक मन्दिर में आपकी

प्रभु-प्रेमी का आठवां लक्षण यह है कि–

८–वह सब प्रकार के दुराग्रह से सर्वथा दूर रहकर पूर्ण निराग्रही बने।

भक्तवर दयानन्द पूर्ण निराग्रही थे। वे दुराग्रह-दोष से सर्वथा दूर ही रहा करते थे। वे सर्वदा सत्य का ही आग्रह किया करते। सत्य-आग्रह करना ही उनके सफल जीवन का सार था। उनको जब कभी कोई अपनी बात असत्य तथा अलीक प्रतीत होती, तो उसका सदा के लिए तुरन्त परित्याग कर देते। यदि कोई उनकी तुच्छातितुच्छ त्रुटि भी दर्शा देता तो उसको भी सहर्ष स्वीकार कर लेते। एक स्थान में महाराज संस्कृत में व्याख्यान दे रहे थे। उनके मुखारविन्द से सहसा संस्कृत का एक अशुद्ध शब्द निकल गया। उसे सुनकर एक बालक ने शोर मचाना शुरू कर दिया कि स्वामी जी ने संस्कृत बोलने में अशुद्धि करदी। उस बालक की बात सुनकर महाराज ने कहा–बच्चे तू सत्य कहता है। मेरे मुख से संस्कृत का एक शब्द अवश्य अशुद्ध निकल गया है। और यदि मैं चाहूँ तो इस अशुद्ध शब्द को भी व्याकरण के बल से शुद्ध करके दिखा सकता हूँ, किन्तु सत्याग्रही जनों का यह कार्य नहीं कि वे अपनी दूषित दुराग्रही वृत्ति पर भी डटे रहें। अतः तेरा बार-बार शोर मचाकर व्याख्यान में विघ्न उपस्थित करना उचित नहीं"।

कितनी सरलता तथा निरभिमानता है। यदि महाराज चाहते

मूर्त्ति लगेगी और सर्वत्र आपकी पूजा तथा जय-जयकार होगी। शेष सुधार कार्य आप करते रहें। केवल मूर्त्तिपूजा का खण्डन करना छोड़ दें।'' इस महान् प्रलोभन को ऋषि ने तुरन्त ठुकरा दिया और कहा—''जिस पाप-पाखण्ड और जनता को गर्त में गिरानेवाले कार्य का समर्थन ईश्वर और उसके बनाए वेद नहीं करते हों, ऐसे असत्य मार्ग का आश्रय मैं अपनी प्रतिष्ठा के लिए करना तो दूर करने की सोच भी नहीं सकता।'' पण्डितों ने कहा—''देख लीजिए महाराज! ऐसा सुअवसर पुनः कभी नहीं आयेगा।'' ऋषि ने कहा—''ऐसे प्रलोभन को अस्वीकार करने का अवसर आपके सम्मुख भी कभी नहीं आयेगा।'' यह कहकर निर्भीक दयानन्द तुरन्त अकेले ही अपने डेरे पर लौट आये।

पाठकजन! क्या इससे बड़ा प्रलोभन और उसको भी ठुकरा देने का उदाहरण अन्यत्र मिल सकता है? कदापि नहीं। धन्य हैं ऋषिवर, जिन्हें लोकैषणा छू भी नहीं गई थी। —विरजानन्द दैवकरणि

तो संस्कृत के उस अशुद्ध शब्द को भी अनुभूति प्रकाश पण्डित की तरह अपनी व्याकरण की पूर्ण प्रतिभा से शुद्ध करके दिखला देते। किन्तु ऋषिवर दयानन्द ने केवल अपनी मान प्रतिष्ठा को कायम रखने की खातिर ऐसा करना उचित नहीं समझा जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है वे सर्वदा सत्य का ही आग्रह किया करते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में बार बार इस बात को दुहराया है कि यदि मेरी भी कोई बात तुम्हें असत्य तथा वेद विरुद्ध प्रतीत हो तो उसे भी मत मानना। उन्होंने आर्यसमाज का चतुर्थ नियम भी इसी आधार पर बनाया है। जैसा कि वे लिखते हैं—सत्य के ग्रहण करने तथा असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

भगवद्-भक्त का नवां लक्षण है कि—

९—वह सदा क्षमाशील बन कर अपने अपराधियों का भी अहित चिन्तन न करे।

भक्तवर दयानन्द, दया और क्षमा के साक्षात् अवतार थे। वे अपने बड़े से बड़े अपराधियों को भी उनके अपराधों का दण्ड नहीं देते थे। वे अपने प्रबल शत्रु से भी बदला लेना नहीं जानते थे। स्वनाम धन्य दिव्य दयानन्द अपने अपराधियों पर दया और क्षमा करने पर ही शान्ति और दया का अनुभव करते थे। उनके जीवन में बीसियों रुढ़ि-प्रिय पुरुषों ने उन्हें पर्याप्त दुःख और यातनाएँ पहुँचाईं, किन्तु निज जीवन काल में अपने किसी भी अपराधी को उन्होंने किञ्चिन्मात्र भी दुःख या दण्ड नहीं दिया। "श्रीमद्दयानन्द प्रकाश" में महाराज की क्षमाशीलता का निम्न शब्दों में निर्देश मिलता है—

"महाराज का स्वभाव अति शान्त, क्षमाशील तथा परम उदार था। वे कुपित होना तो कभी जानते ही न थे। उनकी सुमधुरवाणी में अश्लीलता तथा अपशब्दों का लेश भी न था। उन पर लोगों ने दिन और रात्रि में अनेक बार भीषण प्रहार किए, ईंट और पत्थर बरसाए सांप तक फैंके, किन्तु उन्होंने कभी भी किसी की ताड़ना तक भी नहीं की। वे पूर्ण समर्थ होते हुए भी उनके अत्याचारों को सहते रहे।"

ऋषि जीवन में उनकी क्षमाशीलता के अनेकों उदाहरण मिलते हैं—राव कर्णसिंह क्रुद्ध हो उनकी जान तक लेने को उद्यत हो जाता है। और तलवार निकाल कर आक्रमण करता है, किन्तु ऋषिवर केवल अपनी आत्मरक्षा के लिए अपने

अतुल ब्रह्मचर्य बल से उसकी तलवार को पकड़ दो टुकड़े कर देते हैं, किन्तु कर्णसिंह को कुछ भी कष्ट नहीं पहुँचाते। ऋषिवर चाहते तो इसी खड्ग से उसकी लीला को ही सदा के लिए समाप्त कर देते। किन्तु क्षमा और दया के अवतार दयानन्द ने ऐसा करना उचित नहीं समझा। भगवान् दयानन्द कानून के बन्धन में बन्धे अपने विष दाता को भी यह कहकर कि मैं प्रभु के अमृत पुत्रों को बन्धन में डालने नहीं आया, अपितु उन्हें बन्धन मुक्त करने आया हूँ, हथकड़ी रूपी बन्धन से मुक्त करा देते हैं।

अमृतसर में कुछ शरारती लड़कों ने व्याख्यान के समय महाराज के ऊपर ईंट और पत्थर फैंके। इससे महाराज के भव्य भाल पर भारी चोटें भी आईं, किन्तु जब महाराज का व्याख्यान समाप्त हुआ तो कुछ भद्रजनों को महाराज ने आदेश दिया कि जाओं उन लड़कों को मेरे पास बुला लाओ। जब वे महाशय उन लड़कों को महाराज के पास लाए, तो वे लड़के यह विचार कर कि न जाने महाराज हमारे इस कुत्सित कर्म का क्या दण्ड देंगे, थर थर कांपने लगे। महाराज ने उन्हें प्रेम पुरःसर सान्त्वना देकर कहा—बच्चों डरो मत! मैं तुम्हें इस कुत्सित कर्म का कुछ भी दण्ड नहीं दूंगा, परन्तु यह तो बताओं तुमने हमारे ऊपर ईंट पत्थर क्यों फेंके। लड़कों ने कांपते हुए कातर स्वर ने कहा—महाराज! हमारे मास्टर ने यह कह कर कि यदि तुम स्वामी दयानन्द के ऊपर ईंट पत्थर फैंकोगे तो तुम्हें एक एक लड्डू इनाम मिलेगा आप के ऊपर पत्थर फैंकने का प्रबल आग्रह किया था। उस दयानन्द ने बालकों की यह बात सुनकर कहा, अच्छा बच्चो! तुम्हारा मास्टर तो न जाने तुम्हें लड्डू देगा या नहीं। लो हम तुम्हें लड्डू मंगवाकर खिलाते हैं। यह कहकर महाराज ने अपनी जेब में से रुपये निकाल अपने भक्तजनों को आदेश दिया कि जाओ बाजार से लड्डू लाकर इन सब बालकों में बांट दो।

साधु टी०एल० वास्वानी ने ऋषिराज की दयालुता और क्षमाशीलता का आपनी "पथ प्रदीप" पुस्तक में निम्न शब्दों में वर्णन किया है—

"एक ईश्वर की पूजा का उपदेश देने के कारण दयानन्द को गालियाँ मिलती हैं। वे लिखते हैं—मुझे हर्ष है कि लोग

ईश्वर भक्ति के प्रचार के कारण मुझे गालियाँ देते हैं। लोग उस के ऊपर ईंटें और पत्थर फैंकते हैं पर पुलिस उसे पकड़ लेती है, किन्तु दयानन्द यह कहकर कि "जाओ मैंने इसे क्षमा कर दिया" उसे छुड़ा देते हैं। बनारस में एक धार्मिक शास्त्रार्थ में उन के ऊपर ढेलों की बोछाड़ पड़ती है। अनेक बार अन्हें जहर देने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु प्रत्येक आततायी के लिए उनका उत्तर है–"जाओ! फिर पाप न करना" एक ब्राह्मण उन्हें पान में जहर मिला कर देता है, एक मुसलमान तहसीलदार सैयद मुहमम्द को इसकी सूचना मिलती है, और वह घातक को पकड़ लेता है। परन्तु दयानन्द कहता है–"मैं लोगों को कैद कराने नहीं प्रत्युत कैद से छुड़ाने आया हूँ"। एक मनुष्य उनके पास खाने को कुछ मिठाई लाता है। दयानन्द उस को कहते हैं–लो इसमें से प्रसाद रूप में थोड़ा-सा तुम भी खालो, किन्तु वह स्वयं खाने से इन्कार करता है। दयानन्द वहाँ बैठे हुए लाला सुन्दरलालजी आदि से कहते हैं–देखो! यह आदमी मिठाई में विष मिलाकर लाया है। लाला सुन्दरलाल अपने एक साथी से पुलिस बुलाने को कहते हैं, किन्तु महाराज दयानन्द कहते हैं–"नहीं, पुलिस मत बुलाओ? इस मनुष्य के मुख की ओर तो देखो। वह अपने पाप के प्रायश्चित से पहिले ही अधमरा हो रहा है। इसके लिए यही पर्याप्त दण्ड है। फिर उस अपने विष दाता घातक से कहते हैं–जाओ! फिर ऐसा पाप मत करना"।

पाठक देखें सिन्ध के प्रसिद्ध संत टी०एल० वास्वानी ने ऋषि की क्षमा शीलता तथा दयालुता का कैसे मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है। मैं दयालु दयानन्द की दया का कहाँ तक बखान करूँ? वे तीव्र हलाहल का प्याला पिला कर, निज प्राणों का हरण करनेवाले उस जघन्याचारी जगन्नाथ को भी मृत्युरूपी विकराल काल के गाल से बचा लेते हैं। वे निज प्राण हरता पापी जगन्नाथ को यह कहकर कि "जिन रुपयों के लोभ से तूने मुझे घातक विष दिया है, वे रुपये ले, और यहाँ से तुरन्त चला जा। अन्यथा फाँसी के तख्ते पर चढ़ा दिया जायेगा"। उसे नेपाल की ओर भेज देते हैं। भला इससे बढ़कर अपने प्राण हर्ता पामर-प्राणी तक को भी क्षमा प्रदान करने, और दयाभाव दर्शाने का ज्वलन्त उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा।

भगवद्-भक्त का दसवां लक्षण यह है कि–

१०–वह सब प्रकार से अपने को प्रभु शरणागति में अर्पित करदे। और मनसा, वाचा, कर्मणा प्रभु का ही हो जाए।

भक्तप्रवर दयानन्द ने अपना सकल जीवन सर्वात्मा भगवच्चरणों में ही अर्पित कर दिया था। उनका एक एक क्षण प्रभु-सेवा में ही अर्पित था। वे प्रत्येक कार्य भगवान् की प्रसन्नता के लिए करते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर प्रभु-शरणागति का पावन उपदेश दिया है। महाराज सत्यार्थ-प्रकाश के सातवें समुल्लास में लिखते हैं–

"भगवद्-भक्त को चाहिये कि वह अपनी आत्मा को सर्वदा भगवान् की ही आज्ञा में अर्पण करदे।"

उसी प्रकार महाराज ने ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका के उपासना प्रकरण में लिखा है–

"हम मनुष्यों को चाहिये कि अपनी आयु को ईश्वर सेवा और उसकी आज्ञा पालन में ही अर्पित कर दें। हम अपने प्राणों को भी भगवान् के अर्पण कर दें। हमें अपनी नेत्रादि इन्द्रियों को, तथा सब सुखों के साधनों को और यज्ञादि शुभ कर्मों को भी प्रभु प्रसन्नता में ही अर्पण कर देना चाहिये। इस प्रकार जो मनुष्य अपने सर्वस्व तक को प्रभु के अर्पण कर देता है, उसके लिए परम कारुणिक प्रभु सब सुखों को प्रदान करते हैं।"

ऋषि के इन हार्दिक उद्गारों से पता लगता है कि उन्होंने किस प्रकार अपने जीवन को भगवत्-शरणागति में अर्पण कर दिया था। वे प्रभु की शरण में रहते हुए मृत्यु तक से भी नहीं डरते थे। वे निज भयावह मृत्यु को भी भगवान् की ही इच्छा समझ उसका सहर्ष स्वागत करने को सर्वदा उद्यत रहते थे। इसका प्रबल परिचय उन्होंने अपनी विनश्वर देह का परित्याग करते समय दिया है। अपने योगबल से जब उन्हें पता लगता है कि आज मेरे प्राणपखेरु इस विनश्वर शरीर का परित्याग कर देंगे, तो उस समय वे प्रसन्न-वदन हो प्रभु का गुणानुवाद गाने लगते हैं। और गायत्री तथा पवित्र प्रणव का जप करते हुए भगवान् को सम्बोधित कर कहते हैं–"भगवन् तेरी लीला अपरम्पार है। प्रभो तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो।" यह कहकर इस विनश्वर चोले को

त्याग, सदा के लिए प्रभु की सुखमयी गोद में सो जाते हैं। अहा! प्रभु शरणागति की कैसी पराकाष्ठा है। जिस भयावह मृत्यु के भय से बड़े बड़े ज्ञानी जन भी भयभीत हो जाते हैं, भगवान् दयानन्द उस विकराल काल को भी प्रभु इच्छा समझ उसका सहर्ष स्वागत करते हैं।

सन्तजनों के दर्शाए उपर्युक्त सकल गुण भक्तराज भगवान् दयानन्द के अन्दर किस प्रकार से ओत प्रोत थे इसका परिचय पाठकों को भली प्रकार मिल गया होगा। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त अन्य भी समदृष्टि आदि गुण जो कि भगवद् भक्त के अन्दर होने चाहियें, वे सब भी महाराज के जीवनोद्यान में पूर्णतया विकसित थे। 'श्रीमद्दयानन्दप्रकाश' में महाराज के समदृष्टि आदि गुणों का सुन्दर वर्णन निम्न शब्दों में किया गया है–

"महाराज ऐसे वीतराग थे, ऐसे समदृष्टि थे, ऐसे साम्यवादी थे कि उनकी सतत मधुर रस वर्षिणी कृपाकटाक्ष पर पक्षपात का आरोप उनके किसी विरोधी ने भी नहीं किया। महाराज को जो प्रातः कुवचनवाणों से वेधता जाता, सायंकाल फिर आ जाने पर उसके साथ भी मंद-मुस्कान सहित वैसे ही मीठी बातें करने लग जाते, जैसे कि अपने अन्य भक्तों और प्रेमीजनों के साथ। उनके हृदय-स्फटिक में कोई रंग नहीं था। उनके अन्तरंग-गंग में राग द्वेष की कोई तरंग स्थिरता नहीं पा सकती थी। उनके समीप सधन, निर्धन, छोटे-बड़े, अपने पराए सभी समान आदर पाते थे।" ऋषि के सन्तोचित व्यवहार के सम्बन्ध में भी श्रीमद्दयानन्दप्रकाश में निम्न सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है–

"महाराज का चलना, बैठना, उठना, टहलना आदि व्यवहार सब के मन को प्रिय लगते थे। वे सब क्रियाएँ करते हुए मन को भाते थे। उनका कृपा कटाक्ष मन को मोह लेता था और उनकी प्रेम भरी वाणी तत्काल सबको अपना बना लेती थी, उनके मुख मण्डल पर तेज, प्रभाव, उदारता, गम्भीरता, धैर्य, अनुग्रह और आशीर्वाद निवास करते थे। उनके रसीले नेत्रों में प्रेम, कृपा, आकर्षण और माधुर्य था। उनका बर्ताव अति मृदु, सुकोमल और चित्ताकर्षक था, उनकी वृत्ति सरल और निष्कपट थी।"

महाराज के समदृष्टि आदि स्वभाव तथा भक्तोचित विमल व्यवहारों का भला इससे बढ़कर और सुन्दर वर्णन क्या होगा।

ऋषि भगवान् के कितने अनन्य भक्त थे, किस प्रकार से उन्होंने भगवद् भक्तों के सकल सद्गुणों को अपने जीवन में विकसित किया था, इसका पूर्ण परिचय पाठकों को भली प्रकार से प्राप्त हो गया होगा। प्रभु-भक्ति के प्रबल प्रताप से ही उनके अन्दर एक अपूर्व आत्मिक-आकर्षण विद्यमान था। जिस अद्भुत आकर्षण से उनका दुश्मन भी उनकी ओर आकर्षित हो जाता था। 'श्रीमद्दयानन्दप्रकाश' में उनके आत्मिक-आकर्षण का निम्न शब्दों में वर्णन किया गया है—

"महाराज जब व्याख्यान देते तो प्रारम्भ में पद्मासन लगाकर और नेत्र बन्द करके प्रभु प्रार्थना करते। प्रथम पवित्र-प्रणव का प्रेम रस भरा नाद गुञ्जाते। यह गूंज बड़ी मधुर और मनोहारिणी होती थी। उसके कर्ण गोचर होते ही मन-मयूर मूर्च्छित हो जाता था। ऐसा प्रतीत होता कि कोई संगीत-कला विशारद सुन्दर वीणा बजा रहा है। ऐसा रसीला-स्वर पहिले किसी ने कभी नहीं सुना था। 'ओम्' उच्चारण के पश्चात् महाराज वेद मन्त्रों का गान करते। तत्पश्चात् नेत्रोन्मीलन कर एक बार सारी सभा पर अपनी नेत्र ज्योति डालते, उस समय बहुधा बहुत लोग यह अनुभव करने लग जाते कि हम किसी अज्ञात दैवी शक्ति से पूर्णतया प्रभावित हो रहे हैं। हमारी चित्त वृत्तियाँ महाराज की ओर अपने आप ही खिंची आ रही हैं। महाराज के नेत्रों में एक प्रबल आकर्षण विद्यमान था। जब वे अपनी नेत्र-ज्योति उपस्थित जनता पर चारों ओर फिराते तो लोगों के हृदय तन्त्री के तारों की भांति झंकृत होने लग जाते थे।"

ऐसा दिव्य आत्मिक आकर्षण उन प्रभु भक्तों के अन्दर ही हुआ करता है कि जिन्होंने प्रभु-भक्ति के प्रबल प्रताप से अपने आत्म-स्वरूप को पहिचान लिया है। जो आत्म-साक्षात् द्वारा आत्मदर्शी बन गए हैं। इसीलिए ऋषिवर दयानन्द जहाँ प्रभु के अनन्य भक्त थे, वहाँ सच्चे आत्मदर्शी तथा परम योगी भी थे। एक दिन आगरा निवासी श्री ब्रह्मानन्दजी ने पं० ज्वालादत्तजी से पूछा—क्या आप कोई वर्तमान समय में आत्म-ज्ञानी जन भी बतला सकते हैं। श्री ज्वालादत्तजी ने उत्तर दिया—

इस समय सबसे बड़े आत्मदर्शी तथा योगी ऋषि दयानन्दजी महाराज हैं। इनको हमने अनेक बार अचल ध्यानावस्था में

लीन देखा है। उनको योग की सब सिद्धियाँ प्राप्त हैं। हमें वे वेद भाष्य लिखाते समय जब किसी वेदमन्त्र के अर्थ में कठिनाई आती प्रतीत होती थी, उस समय कई बार उठकर एकान्त कोठरी में चले जाया करते हैं। और फिर बाहर आकर पूर्व लिखे मन्त्रार्थ में से कई वाक्य और पंक्तियाँ कटवाकर और उनके स्थान पर नवीन वाक्यों की योजना लिखा देते हैं। उनका अन्तःकरण इतना विमल और विशुद्ध है कि सातवीं कोठरी में की गई वार्ता का भी प्रकाश उनके अन्तःकरण में पड़ जाता है। उन्होंने कई बार हमारे मनोगत प्रच्छन्न मनोरथों को हमारे सम्मुख वर्णन किया है। वे हमें उपदेश दिया करते हैं कि–जब मनुष्य के हृदय की सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, तो उसे आत्म–ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तिलों में तैल की भांति आत्मा में ही परमात्मदेव रमे हुए हैं। अतः आत्म–साक्षात्कार होते ही उस प्रभु के भी उस समय दर्शन हो जाते हैं।"

श्री पं० ज्वालादत्तजी का आँखों देखा सुना ऋषि का यह स्वानुभूत वर्णन इस बात का स्पष्ट साक्षी है–कि भक्तवर दयानन्द ने अपनी अनन्य भक्ति के पावन प्रताप, से जहाँ आत्म–साक्षात् कर लिया था, वहाँ उन्होंने अपने विमल आत्म–स्वरूप में योगाभ्यास द्वारा प्रभु के भी दिव्य दर्शन पा लिए थे। इसीलिए सन्त टी. ऐल. वास्वानी लिखते–"मैं दयानन्द को केवल सुधारक ही नहीं प्रत्युत एक महान् योगीराज भी मानता हूँ। मेरा विश्वास है कि उनका जीवन वास्तव में तपस्या और योग का जीवन था।" अतः जब जब भी मैं ऋषि के प्रभुमय जीवन पर विचार करता हूँ तो मुझे वे केवल भक्त ही नहीं, प्रत्युत भक्त शिरोमणि जान पड़ते हैं। ऐसे–प्रेमी सन्तों के जीवन ही अविद्यान्धकार में भटकते हुए हमारे जैसे पथ भ्रष्ट प्राणियों के लिए सन्मार्ग दर्शक हुआ करते हैं। वेद में ऐसे प्रभु–प्रेमी सन्त महात्माओं के लिए ही भक्तजनों ने भगवान् से प्रार्थना की है–

उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतामनु।

भगवन्! हम तेरे मोक्षानन्द को प्राप्त अमर भक्तों का अनुसरण करते हुए अपने निकृष्ट और पतित जीवन से ऊपर उठकर उत्कृष्ट और पवित्र जीवन को प्राप्त करें। अतः इस भवसिन्धु में अवतरित हम सबका परम कर्तव्य है कि हम भी ऐसे प्रभु–प्रेमी पुरुषों के पद चिह्नों पर चलते हुए प्रभु–भक्त

बनने का पूर्ण प्रयत्न करें। हम भक्तवर भगवान् दयानन्द की भांति उस कल्याणमय सच्चे शिव को पाने का शिव संकल्प अपने हृदय में धारण करें और उसकी पावन प्राप्ति के लिए पूर्ण पुरुषार्थ करने में प्रयत्नशील हों। हमारे जीवन भी भगवान् दयानन्द की भांति भगवन्मय हों। अन्त में उस भक्त-वत्सल करुणामय प्रभु से कर जोड़ विनय है कि वे हमारी आत्माओं को बल प्रदान करें जिससे हम भक्तवर भगवान् दयानन्द की भांति अपने जीवनों को उच्च, पवित्र और महान् बनाते हुए प्रभु के अनन्य भक्त बनकर उनकी प्रेममयी पावन गोद में वास करने के अधिकारी बन सकें।

अब हम अगले स्तम्भों में भक्तवर भगवान् दयानन्द के मंगलमय आध्यात्मिक उपदेशों को प्रभु-प्रेमी भक्तों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। आशा है अध्यात्म-प्रेमी जन इन अमूल्य उपदेशों का मनन और निदिध्यासन कर, इन्हें अपने जीवन में चरितार्थ करेंगे और इनके द्वारा सुख-शान्ति का अनुभव कर इस मानव जीवन को सफल करेंगे।

ऋषि के आध्यात्मिक उपदेश

ईश्वर-सिद्धि

विश्व की विचित्र रचना ही उस विश्व-रचयिता को सिद्ध कर रही है–

देखो शरीर में (प्रभु ने) कैसी ज्ञान पूर्वक रचना की है, कि जिसको विद्वान् लोग भी देखकर आश्चर्य मानते हैं भीतर हड्डियों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा, यकृत्, फेंफड़ा-पंखा कला का स्थापन, जीव का (हृदय) में संयोजन, शिरोरूप मूल की रचना, लोम नखादि का स्थापन, आंखों की अतीव सूक्ष्म शिराओं का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के (पृथक्-पृथक्) भागों का प्रकाशन, जीव के जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिए स्थान विशेषों का निर्माण, सब धातुओं का विभाग करना, कला, कौशल स्थापनादि अद्‌भुत सृष्टि को विना परमेश्वर के कौन बना सकता है।

नानाप्रकार के रत्नों, धातुओं से जड़ित मुक्ति (मोती), विविध प्रकार के वट वृक्षादि के बीजों में अति सूक्ष्म रचना, असंख्य हरित, श्वेत, पीत, कृष्ण आदि अनेक विचित्र (रंग-विरंग) रूपों से युक्त पत्र, पुष्प, फल, अन्न, कन्द, मूलादि की रचना, अनेकानेक कोटि भूगोल सूर्य, चन्द्र आदि लोकों का निर्माण, धारण, भ्रमण आदि नियमों में रखना आदि (विचित्र कार्य) परमेश्वर के विना कोई भी नहीं कर सकता।

—स॰प्र॰ ८ समु॰

हम प्रभु की उपासना कैसे करें?

(ईश्वर का स्वरूप)

१. जिसके गुण, कर्म स्वभाव और स्वरूप सब सत्य ही हैं। जो केवल चेतन मात्र वस्तु है। तथा जो अद्वितीय, सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्यगुणों वाला है। और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध न्यायकारी, दयालु और अजन्मा आदि है। जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति और विनाश करना, तथा सर्व जीवों को पाप पुण्यों के फल ठीक पहुँचाना है, उसे ईश्वर कहते हैं। —आर्योद्देश्य रत्नमाला

२. हे मनुष्यो! जिस प्रभु के विना न विद्या और न ही सुख की प्राप्ति हो सकती है। जो प्रभु विद्वानों का संग, योगाभ्यास और धर्माचरण के द्वारा प्राप्त होता है। उसी जगदीश्वर की सदा उपासना किया करो। —ऋ०भा० ७.११.१

३. सब लोगों को चाहिये कि सत्-चित्-आनन्द स्वरूप, नित्य ज्ञानी, नित्यमुक्त, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, कृपालु, सब जगत् के जनक और धारण करने हारे परमात्मा की ही सदा उपासना करें कि जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो मनुष्य देह रूप वृक्ष के चार फल हैं वे उसकी भक्ति और कृपा से सर्वदा सब मनुष्यों को प्राप्त होते हैं। —पञ्चमहायज्ञविधि

४. हे मनुष्यो! जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त स्वभाववाला, कृपा सागर, ठीक-ठीक न्याय का करनेवाला, जन्म-मरणादि क्लेशरहित, निराकार, सबके घट-घट का जाननेहारा, सबका धर्ता, पिता, उत्पादक, अन्नादि से विश्व का पालन पोषण करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है उसी को हम धारण करें। जिससे कि वह परमेश्वर जो हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामीस्वरूप है, हमको दुष्टाचार अधर्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार और सत्यमार्ग में चलावे। उस प्रभु को छोड़कर हम और किसी का ध्यान न करें, क्योंकि न

कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है।

—स०प्र० ३ समु०

५. हे मनुष्य लोगो! जो सबका उत्पन्न करनेवाला, पिता के तुल्य रक्षक, सूर्यादि प्रकाशकों का भी प्रकाशक, सर्वत्र अभिव्याप्त जगदीश्वर है, उसी पूर्ण परमात्मा की हम सदैव उपासना किया करें। —यजुर्वेदभाष्य ३७.१४

६. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरुप, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है। —आर्यसमाज के नियम सं० २

७. हे मनुष्यो! जो जगदीश्वर सारे संसार में व्यापक होकर सबको धारण करके, रक्षा करता हुआ अर्न्तयामी रूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। जिसकी कृपा से विज्ञान, दीर्घायु तथा विजय प्राप्त होता है, तुम उसका ही निरन्तर भजन करो। —ऋ०भा० ४.५८.११

प्रभु-भक्ति

१. प्रभु भक्ति का प्रकार—न्यून-से-न्यून एक घण्टा तक परमेश्वर का ध्यान अवश्य करें। जैसे योगी लोग समाधिस्थ होकर परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही सन्ध्योपासना भी किया करें। —स० प्र० ३ समु०

२. सन्ध्योपासना कैसे करें—भक्त जब प्रार्थना करना चाहे, तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर और बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभि प्रदेश में, वा हृदय, कण्ठ, नेत्र (भ्रूमध्य) शिखा (ब्रह्मरन्ध्र) अथवा पीठ की मध्य अस्थि (सुषुम्ना नाड़ी) में से किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा में मग्न हो जाए। —स०प्र० ७ समु०

३. सच्चा नाम स्मरण, या भक्ति का स्वरूप—प्रभु के ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, ईश्वर आदि नामों के अर्थों को अपने (जीवन) में धारण करे। अर्थात् बड़े कामों से बड़ा बने, समर्थों में समर्थ हो, (अपने) सामर्थ्यों को बढ़ाता जाए। अधर्म कभी न करे। सब पर दया रखे। सब प्रकार के साधनों से समर्थ बने, शिल्प विद्या से नाना प्रकार के पदार्थों का निर्माण करे, संसार में अपने आत्मा के तुल्य सुख दुःख समझे, सब की रक्षा करे। इस प्रकार परमेश्वर के नामों का अर्थ विचार कर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म स्वभाव को बनाते जाना ही परमेश्वर का (सच्चा) नाम स्मरण है। —स०प्र० ११ समु०

४. उपासना की विधि—जब जब मनुष्य ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब तब अपने अनूकूल एकान्त स्थान में बैठकर, अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर (एकाग्र) करें, तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्द, अर्न्तयामी, सर्वव्यापक, और न्यायकारी परमात्मा में भली प्रकार लगा कर, सम्यक् चिन्तन करके उसी में अपने आत्मा को नियुक्त अर्थात् लीन कर दें। —ऋ०भा०भू०उ०प्र०।

५. ईश्वर-साक्षात्कारोपायः—मनुष्या आलस्यं विहाय, पूर्वैराप्तैराचरितानि कर्माणि कृत्वा, देवानां देवं सर्वाधारं सत्यस्वरूपं, दीपेन घटादिकमिवाऽन्तर्व्याप्तं परमात्मानं

साक्षात्कृत्य, अन्यान् प्रत्युपदिशन्तु। —य०भा० ३.५५

भाषार्थ—सब मनुष्य आलस्य छोड़, पूर्व के ऋषि मुनियों द्वारा किए कर्मों को करके, देवों के देव, सर्वाधार, सत्यस्वरूप, अन्तर्यामी परमात्मा को दीपक से घटादि के समान साक्षात् करके अन्यों को उपदेश प्रदान करें।

६. ईश्वर-साक्षात्कार—जैसे यज्ञ करनेवाले ऋषि लोग याज्ञाग्नि को अपने सम्मुख स्थापित करके और उसमें आहुति देकर जगत् का उपकार करते हैं उसी प्रकार अपने आत्मा के सम्मुख परमात्मा को देखकर उस परमात्म अग्नि में अपने मन आदि इन्द्रियों का हवन करके जो प्रभु का साक्षात् कर लेते हैं, वे ही (परमात्म-भक्त) वेद के उपदेश से जगत् का उपकार कर सकते हैं। —ऋ०भा० ६.१०.१

७. भगवान् के रचे अद्भुत पदार्थ ही भगवान् की महान् मूर्तियाँ हैं—यदि मूर्त्ति के दर्शन से ही परमेश्वर का स्मरण होता है तो परमेश्वर के बनाए पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि अनेक पदार्थ जिनमें ईश्वर ने अद्भुत रचना की है, क्या ऐसी (अद्भुत) रचना युक्त पृथिवी, पहाड़ आदि परमेश्वर रचित मूर्तियाँ, कि जिन पहाड़ आदि से मनुष्यकृत मूर्तियाँ बनती हैं, उनको देखकर परमेश्वर का स्मरण नहीं हो सकता। —स०प्र० ११ समु०

८. परमात्म पद-प्राप्ति—हे विद्वानो! और मुमुक्षु लोगो! विष्णु का जो परम, अत्यन्तोत्कृष्ट पद, सबके जानने योग्य, जिसको प्राप्त होके (भक्तजन) सदा पूर्णानन्द में रहते हैं, फिर वहाँ से शीघ्र दुःखसागर में नहीं गिरते। उस विष्णु के परमपद को धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सबके हित कारक विद्वान् लोग ही यथावत् अच्छे विचार से देखते हैं। जैसे सूर्य का प्रकाश सब ओर व्याप्त है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा, सब जगत् में परिपूर्ण एक रस भर रहा है। वही परम पद स्वरूप परमात्मा प्राप्त करने योग्य है उसी को प्राप्त कर जीव सब दुःखों से छूटता है। अन्यथा जीव को कभी परम सुख नहीं मिलता। इसलिए हमको उस परमेश्वर की प्राप्ति में सब प्रकार से सदा प्रयत्न करना चाहिये। —आर्याभिविनय

९. हम उस प्रभु को अपना सखा कैसे बनावें—हे मनुष्यो! जो जड़ तथा चेतन जगत् का अधिष्ठाता और पालक है, आओ मित्रो! भाई लोगो! हम सब मिल के उस परमानन्द,

सब बलों के स्वामी इन्द्र परमात्मा को (अपना) सखा बनाने के लिए अत्यन्त प्रेम से गद्गद् होके बुलावें वह प्रभु शीघ्र ही कृपा करके हमसे सखित्व (मित्रता) करेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। —आ०अ०

१०. जो लोग परमात्मा को नहीं जानते उन्हें धिक्कार है—जो लोग परमात्मा को नहीं जानते और उसकी आज्ञा के अनुकूल आचरण नहीं करते, उन्हें वार-वार धिक्कार है। और जो उसकी उपासना करते हैं वे धन्य हैं।

—ऋ०भा० ६.१५.१०

११. परमात्म प्रेमी की पहिचान—सच्चा प्रभु का प्रेमी किसी से घृणा नहीं करता, वह ऊँच-नीच भेद भावना को त्याग देता है। वह उतने ही पुरुषार्थ से दूसरों के दुःख निवारण करता है, कष्ट और क्लेश हरता है, जितने पुरुषार्थ से वह अपने कार्य करता है, ऐसे ज्ञानी जन ही वास्तव में आत्मप्रेमी कहलाते हैं। —श्रीमद्दयानन्दप्रकाश

किनके हृदय में प्रभु की ज्योति का प्रकाश होता है

१. योगी के हृदय में ही प्रभु के दर्शन होते हैं—जो सत्य भाव (सच्चे हृदय) से धर्म का अनुष्ठान कर, योग का अभ्यास करते हैं, उनके ही हृदय में परमात्मा प्रकाशित होता है। —ऋग्वेदभाष्य ७.३८.२

२. ब्रह्म को कौन जान सकता है—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि व्रत, सदाचार, विद्या, योगाभ्यास, धर्म का अनुष्ठान, सत्संग और पुरुषार्थ से रहित हैं, वे जन अज्ञान-रूप अन्धकार से दबे हुए होने के कारण ब्रह्म को नहीं जान सकते। और जो सर्वान्तर्यामी, सबका नियन्ता और सर्वत्र व्याप्त है, उसको जानने के लिए जिनका आत्मा पवित्र है वे ही योग्य होते हैं। अन्य नहीं। —यजुर्वेदभाष्य १७.३१

३. शरीर की पुष्टि तथा आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि प्रभु प्राप्ति का साधन है—हे मनुष्यो! तुम लोग धर्म का आचरण, वेद और योग के अभ्यास, तथा सत्संग आदि कर्मों से शरीर की पुष्टि और आत्मा तथा अन्तःकरण की शुद्धि को सम्पादन कर सर्वत्र अभिव्याप्त परमात्मा को प्राप्त होके सदा सुखी होवो। —यजुर्वेदभाष्य ३२.११

४. परमात्मा किसे मिलते हैं—वह परमात्मा अधर्मात्मा, अविद्वान्, विचार-शून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वर-भक्ति रहित जनों से बहुत दूर है। अर्थात् वे कोटि-कोटि वर्षों तक भी उसको नहीं प्राप्त होते। और वे तब तक जन्म मरण आदि दुःख सागर में भटकते फिरते हैं कि जब तक उस (परमेश्वर) को प्राप्त नहीं होते। किन्तु सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक, विद्वान्, विचारशील पुरुषों के अत्यन्त निकट हैं। वे सबके आत्माओं में अन्तर्यामीरूप से व्यापक होकर पूर्ण हो रहे हैं वह (प्रभु) आत्मा का भी आत्मा है उससे तिल मात्र भी स्थान खाली नहीं है, क्योंकि वह अखण्डैक रस होकर सब में व्यापक हो रहा है। उसी को जानने से सुख और मुक्ति मिलती है। अन्यथा नहीं। —आर्याभिविनय

५. हम उस प्रभु को क्यों नहीं जानते—हे जीवो! जो परमात्मा इन सब भुवनों को रचनेवाला विश्वकर्मा है, उसको तुम लोग नहीं जानते, क्योंकि तुम अविद्या से अत्यन्त आवृत्त होकर मिथ्यावाद और नास्तिकपन में फंसकर मिथ्या बकवाद करते फिरते हो। इससे तुमको दुःख ही मिलेगा, सुख कदापि नहीं। तुम लोग केवल स्वार्थ साधक (बनकर) शरीर पोषण मात्र में ही प्रवृत्त हो रहे हो, और केवल विषय भोगों के लिए ही अवैदिक कर्म करने मैं प्रवृत्त हो रहे हो। और जिसने सब भुवन रचे हैं, उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी परमात्मा से उल्टे चलते हो इसीलिए उस प्रभु को तुम नहीं जान सकते।

—आर्याभिविनय

६. भगवान् किसको अपने आनन्द से पूर्ण करते हैं—जो सब जगत् का पिता है, वही अपने उपासकों को ज्ञान और आनन्द आदि से परिपूर्ण कर देता है। परन्तु जो मनुष्य सच्ची प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्हीं उपासकों को परम कृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्ष सुख देके सदा के लिए आनन्द युक्त कर देंगे।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, उपासनाप्रकरण

७. परमेश्वर की प्राप्ति किसे नहीं होती—यह उपासना-योग दुष्ट मनुष्य को कभी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं बनाता, तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़ें अथवा सुनें, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, उपासनाप्रकरण

८. परमात्मा के राज्य में कौन प्रवेश करते हैं—जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा (पालन) में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, और जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं के विद्वान् हैं..........वे मनुष्य ही प्राण द्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके, और सब दोषों से छूट के परमानन्द

मोक्ष को प्राप्त होते हैं। —ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, उपासनाप्रकरण

९. परमात्म ज्योति का प्रकाश कहाँ पर होता है—कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर भी कहते हैं। उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर रम रहा है। वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशमय स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है। —ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, उपासना प्रकरण

१०. पुरुषार्थी पुरुष को परमेश्वर शीघ्र प्राप्त होता है—परमेश्वर अत्यन्त दयालु है, अतः जो जीव उसकी प्राप्ति के लिए तन, मन, धन से श्रद्धापूर्वक पुरुषार्थ करता है परमात्मा उसको शीघ्र ही प्राप्त होता है।

—सत्यार्थप्रकाश, प्रथम संस्करण, समुल्लास ९

हम प्रभु की भक्ति क्यों करें?

(प्रभुभक्ति का फल)

१. प्रभु के भक्त सकल ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं—जो मनुष्य ईश्वर की आज्ञा का पालन, उसकी प्रार्थना और उसके ध्यान एवं उपासना का अनुष्ठान करते हुए पुरुषार्थ करते हैं, वे धर्मात्मा होकर प्रभु की सहायता के पात्र बन कर, सफल ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेते हैं। —ऋग्वेदभाष्य ७.४१.३

२. प्रभु की शरण लेनेवाले सदा सुखी रहते हैं—जो मनुष्य जगदीश्वर का आश्रय और आज्ञा पालन से, तथा विद्वानों के संग से अति पुरुषार्थी बन कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं, वे सकल ऐश्वर्य युक्त होकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों में सदा सुखी रहते हैं। —ऋग्वेदभाष्य ७.४१.४

३. प्रभु की उपासना से पुष्टि, वृद्धि, कीर्त्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति—हे मनुष्यो! हम सबका जगदीश्वर ही एक मात्र उपास्य देव है। जिसकी उपासना से पुष्टि, वृद्धि, कीर्ति और मोक्ष प्राप्त होता है, और मृत्यु का भय नष्ट हो जाता है। अतः उस प्रभु को छोड़कर अन्य की उपासना हम कभी न करें। —ऋग्वेदभाष्य ७.५९.१२

४. सच्चा गयातीर्थ तथा गयाश्राद्ध क्या है—अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक गय संज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है। क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है। और उस प्रभु का प्रतिपादन करनेवाला 'गायत्री' मन्त्र है। जिसे 'गया' भी कहते हैं। क्योंकि उसका अर्थ जान श्रद्धा पूर्वक परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। तथा प्राण का नाम भी गया है। उसको प्राणयाम की रीति से रोक के परमात्मा की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं। —उपदेशमंजरी

५. ब्रह्मानन्द रूपी धन के समान अन्य कोई धन नहीं—जिसको पुत्रैषणा होती है, उसे वित्तैषणा भी अवश्य होती

है। और जिसको वित्तैषणा होती है, उसे लोकैषणा भी अवश्य ही होती है।..........किन्तु जिसको केवल परमेश्वर और मोक्ष प्राप्ति की ही इच्छा है, उसकी (पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा) ये तीनों एषणाएँ निवृत्त हो जाती हैं, क्योंकि ब्रह्मानन्द रूपी धन के तुल्य लौकिक धन कभी नहीं हो सकता। जिसकी प्रतिष्ठा प्रभु में हो जाती है, उसके सामने अन्य सब प्रतिष्ठाएँ फीकी पड़ जाती हैं। —ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

६. परमात्मा के सेवक कभी नष्ट नहीं होते—जो राग द्वेष से रहित मनवाले, घोर (पापमय) कर्म रहित, परमेश्वर के सेवक, धर्मात्मा जन होते हैं, उनका कभी नाश नहीं होता।
—ऋग्वेदभाष्य ७.२०.६

७. प्रभु का उपासक शोक और मोह से पार हो जाता है—हमारे माता, पिता, ईश्वर के बनाए पदार्थ लेकर हमें पालते हैं, तो भी वे हम पर बड़ा उपकार करते हैं, और उन उपकारों का स्मरण करना हमारा धर्म है, ऐसा हम स्वीकार करते हैं। फिर जब ईश्वर ने (हमारे ही लिए) सृष्टि उत्पन्न की तो उसके असंख्य उपकारों को हमें कभी न भूलना चाहिये। द्वितीय—कृतज्ञता दिखलानेवालों का मन स्वतः ही प्रसन्न और शान्त रहता। तृतीय—परमेश्वर की शरण जाने से आत्मा निर्मल होता है। चतुर्थ—प्रार्थना से पश्चात्ताप होता है। आगे को पाप वासना का बल घटता जाता है। पंचम—सत्य और प्रेम दृढ़ होते जाते हैं। षष्ठ—ईश्वर स्तुति करने से ईश्वर में अपनी प्रीति बढ़ती है। और ज्यों ज्यों प्रभु के गुण हमारी समझ में आते हैं, त्यों-त्यों प्रीति अधिक बढ़ती जाती है। उपासना के द्वारा आत्मा में सुख और शान्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस उपाय को छोड़ पाप नाश करने का और कोई उपाय नहीं है..............उपासना के द्वारा विवेक उत्पन्न होता है, और विवेकी होने से क्षणिक वस्तुओं में शोक और मोह ये दोनों नहीं होते। —उपदेशमंजरी

८. ईश्वर अपने उपासकों का सब दुःखों से उद्धार करता है—जो मनुष्य सत्य भाव (सच्चे हृदय) से आत्मा और अन्तः करण की शुद्धि के लिए ईश्वर की उपासना करते हैं। वह कृपालु ईश्वर विद्या और धर्म के ज्ञान से उनका सब दुःखों से उद्धार कर देता है। —यजुर्वेदभाष्य ३७.१९

९. प्रभु को सर्वत्र जाननेवाला कभी पाप नहीं

करता—जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं, कि वह सदा सब ओर से हमको देख रहा है। और यह जगत् ईश्वर से व्याप्त, और सर्वत्र ईश्वर विद्यमान है। इस प्रकार सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्मा का निश्चय करके कभी भी अन्यायाचरण से किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण नहीं करते, वे धर्मात्मा होकर इस लोक के सुख और परलोक में मुक्ति रूप सुख को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहते हैं। —यजुर्वेदभाष्य ४०.१

१०. प्रभु भक्ति का फल—जो सत्य भाव (सच्चे हृदय) से परमेश्वर की उपासना करते, और यथाशक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते, और सर्वोपरि सत्कार के योग्य परमात्मा को मानते हैं, उनको दयालु ईश्वर पापाचरण के मार्ग से पृथक् कर, धर्म युक्त मार्ग में चलाके विज्ञान (यथार्थ-ज्ञान) देकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करने के लिये समर्थ कर देता है। —यजुर्वेदभाष्य ४०.१६

११. प्रभु अपने शरणागत को सब दुःखों से दूर कर मोक्ष सुख प्रदान करते हैं—सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश करता है, कि हे मनुष्यो! मेरे सुलक्षणों से युक्त पुत्र के तुल्य, प्राणों से प्यारा मेरा निजनाम ओ३म् है। जो मेरी प्रेम और सत्याचरण-भाव (सच्चे हृदय) से शरण लेता है, मैं अन्तर्यामी रूप से उसकी अविद्या का नाश कर, और उसके आत्मा का प्रकाश कर शुभ गुण, कर्म स्वभाववाला बनाकर, सत्यस्वरूप के आवरण में स्थिर कर योगाभ्यास द्वारा यथार्थ-ज्ञान को दे, और सब दुःखों से अलग करके मोक्ष सुख को प्राप्त कराता हूँ। —यजुर्वेदभाष्य ४०.१७

१२. प्रभु के अटल विश्वासी की कभी पराजय नहीं होती—जिन मनुष्यों का ऐसा निश्चय है, कि केवल परमैश्वर्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है, और हमारे लिए विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, उनका पराजय कभी नहीं होता।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

१३. प्रभु की शरण लेनेवाला जन ही अत्यन्त भाग्यशाली है—जो प्रभु विमल सुखकारक, पूर्ण काम, पूर्ण तृप्त, जगत् में व्याप्त, और जो सब वेदों से प्राप्य है, जिसके मन में उस ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान है, वही मनुष्य आनन्द का भागी है और वही सदा सब से अधिक सुखी है। ऐसा मनुष्य धन्य है। जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, धर्मात्मता, विद्या

सत्संग, सुविचारिता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार अर्थात् आश्रय लेता है, वही जन अत्यन्त भाग्यशाली है। क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्य विद्या से सम्पूर्ण दुःखों से छूट कर परमानन्द परमात्मा की जो प्राप्ति रूप मोक्ष उसको प्राप्त होता है, और दुःख सागर से छूट जाता है। परन्तु जो विषय लम्पट, विचाररहित, विद्याधर्म, जितेन्द्रियता, सत्संगरहित, छल-कपट, अभिमान, दुराग्रह आदि दुष्टतायुक्त है, वह कदापि मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वह जन ईश्वर भक्ति से सदा विमुख हैं। –आर्याभिविनय

१४. शरणागत भक्त की प्रभु माता के समान रक्षा करता है–जब सच्चे मन से अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य से जीव प्रभु को भजता है, तब वह करुणामय परमेश्वर उसको अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। जैसे जब कोई छोटा बालक घर के ऊपर उनके पास जाना चाहता है, तब हजारों आवश्यक कामों को भी माता-पिता छोड़कर और दौड़ कर अपने पुत्र को उठाकर गोद में ले लेते हैं, कि कहीं अगर हमारा बालक गिर पड़ेगा तो उसको चोट लगने से दुःख होगा, और जैसे माता पिता अपने बच्चे को सदा सुख में रखने की इच्छा और पुरुषार्थ सदा किया करते हैं, वैसे ही परम करुणानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई आत्मभाव से चलता है, तब वह प्रभु अनन्त शक्ति रूपी हाथों से उस भक्त जीव को उठाकर अपनी गोद में सदा के लिए ले लेता है, फिर उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देता।

–सत्यधर्मविचार

१५. भगवान् अपने भक्त पर कैसे अनुग्रह करता है–हे मनुष्यो! जो जगदीश्वर अत्यन्त प्रेम से भक्ति करने तथा उसकी आज्ञा का पालन करने पर नवजात शिशु के ऊपर माता के समान कृपा करता हुआ धार्मिक उपासक के ऊपर अनुग्रह करता है। और जो जगदीश्वर सर्वत्र व्यापक होने पर भी प्राणों आदि में प्राणायाम योगसाधन के द्वारा प्राप्त होता है, आओ! उस सुखमय प्रभु की हम सब मिलकर सदा भक्ति करें।

–ऋग्वेद ५.४२.८

१६. भक्त के सम्पूर्ण कार्य (स्वतः ही) पूर्ण हो जाते हैं–**यथा प्रकशमाने सूर्ये विद्यमाने सति कार्याणि निर्वर्तन्ते तथैवोपासिते जगदीश्वरे सर्वाणि कार्याणि सिद्धयन्ति। एवं**

कुर्वन्नृणां नैव कदाचित् सुखधन-नाशे दुःखदारिद्र्ये चोपजायेते।

भाषार्थ—जैसे प्रकाशमान सूर्य के विद्यमान होने से सब सांसारिक कार्य पूर्ण होते रहते हैं, उसी प्रकार जगदीश्वर की उपासना करने पर सब कार्य (स्वतः ही) पूर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार प्रभु की उपासना करने पर कभी भी सुख और धन का नाश नहीं होता और न ही भक्त को दुःख और दारिद्र्य प्राप्त होते हैं। —ऋग्वेदभाष्य १.५९.३

१७. जो जन प्रभु का ध्यान नहीं करते वे सदा दुःख सागर में ही डूबे रहते हैं—जो सब दिव्य, गुण, कर्म, स्वभावयुक्त और जिसमें पृथ्वी सूर्यादि लोक स्थित हैं। और जो आकाश के समान व्यापक सब देवों का देव परमेश्वर है, उसको जो मनुष्य न जानते, न मानते और न ही उसका ध्यान करते हैं, वे नास्तिक मन्दमति सदा दुःख सागर में ही डूबे रहते हैं। —सत्यार्थप्रकाश, समु० ७

१८. प्रभु उपासना का फल—जब (साधक) इन (यम नियमादि) साधनों को करता है, उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्य प्रति ज्ञान विज्ञान बढ़कर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूटकर, परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म स्वभाव भी पवित्र हो जाते हैं। इसलिये परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिये। इससे इसका फल पृथक् तो होगा ही, परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा, और सब दुःखों तथा क्लेशों को सहन कर लेगा।

—सत्यार्थप्रकाश, समु० ७

१९. ईश्वर को न मानना तथा उसकी भक्ति न करना कृतघ्नता है—जो जन परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करते वे कृतघ्न और महा मूर्ख हैं। क्योंकि जिस परमेश्वर ने इस जगत् के सब पदार्थ (हम) जीवों के सुख के लिए दे रखे हैं उसका गुण भूल जाना, और ईश्वर को ही न मानना अत्यन्त कृतघ्नता और मूर्खता है।

—सत्यार्थप्रकाश, समु० ७

२०. परमेश्वर योगी के समान सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला है—हे मनुष्यो! जो परमेश्वर पुत्र पर माता के समान कृपालु और रक्षा करनेवाला, योगी के समान सकल कामनाओं को पूर्ण करनेवाला, सारे विश्व का रचयिता और सर्व रक्षक है तुम उसकी ही सदा उपासना करो।

—ऋग्वेद ७.५.१

२१. उस प्रभु का ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये—**हे मनुष्याः! यः सर्वस्याः प्रजायाः नियमव्यवस्थायां स्थापकः, सूर्यादिप्रकाशकानामपि प्रकाशकः, सर्वेषामुपास्यदेवश्चास्ति स एव प्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, निदिध्यासितव्यो ज्ञातव्यश्चास्ति।** —ऋग्वेदभाष्य ७.५.८

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो परमेश्वर सब प्रजा को नियम और व्यवस्था में रखनेवाला, सूर्यादि प्रकाशकों का भी प्रकाशक, और सबका उपास्यदेव है, वही श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने, पूछने और जानने योग्य है।

२२. उपासना किया हुआ प्रभु अपने भक्त को सकल ऐश्वर्य प्रदान करता है—हे मनुष्यो! जिस प्रभु की उपासना करने से विद्वान् लोग पुष्कल धन, ऐश्वर्य और पूर्ण विद्या को प्राप्त कर लेते हैं उपासना किया हुआ जो प्रभु (अपने भक्त को) सकल ऐश्वर्य प्रदान करता है। तुम उसका ही सदा सेवन करो। —ऋग्वेदभाष्य ७.५.८

२३. ईश्वराभिमुख जन ही सदा सुखी रहते हैं—हे प्रिय बन्धु जनो! ईश्वर सब जगत् के बाहर और भीतर सूर्य के समान प्रकाश कर रहा है। वही पृथ्वी आदि जगत् को रच के धारण कर रहा है। और विश्व धारक शक्ति को भी निवास देने और धारण करनेवाला है। और सब जगत् का परम मित्र और राजा के समान हम लोगों का रक्षक तथा पालन कर्ता वही एक ही है। और कोई भी नहीं। जो जन उस ईश्वर के 'पुरः सद' हैं, अर्थात् ईश्वराभिमुख हैं, वे ही 'शर्मसदः' अर्थात् सुख में सदा स्थिर रहते हैं। जैसे पुत्र अपने पिता के घर में आनन्द पूर्वक निवास करते हैं। वैसे ही जो परमात्मा के भक्त हैं, वे सदा सुखी रहते हैं। जो अनन्य चित्त होकर उस निराकार, सर्वत्र व्यापक ईश्वर की सच्ची श्रद्धा से भक्ति करते हैं। जैसे पतिव्रता देवी अपने पति की सेवा में सदा तत्पर रहती है। वैसे भाई लोगो! हम भी प्रेम प्रीति

युक्त होकर ईश्वर की भक्ति करें। और सब मिल कर उस परमात्मा से परम सुख का लाभ करें। —आर्याभिविनय

२४. धर्मार्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति का उपाय-ईश्वर उपासना—सब मनुष्यों को चाहिये कि सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्यज्ञानी, नित्यमुक्त, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी सर्वव्यापक, कृपालु, सब जगत् के जनक और धारण करने हारे परमेश्वर की ही सदा उपसना करें। जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो मनुष्य-देहरूप वृक्ष के चार फल हैं, वे उसकी भक्ति और कृपा से सर्वदा हम सब मनुष्यों को प्राप्त हों। —पंचमहायज्ञविधि

२५. प्रभु के अटल विश्वासी को ही सब इष्ट सुखों की प्राप्ति होती है—वह परमात्मा सर्वज्ञ, सबके रचनेवाला, सर्वव्यापक, आकाशवत् निर्विकार, अक्षोभ्य और सबका आधार है। वही सर्व जगत् का धारणकर्त्ता और विधाता है। जो मनुष्य उस ईश्वर की भक्ति, उसी में विश्वास, और उसीकी पूजा करते हैं, उसको छोड़ के अन्य किसी को लेशमात्र भी नहीं भजते उन पुरुषों को ही सब इष्ट सुख प्राप्त होते हैं, और किसी को नहीं। वह ईश्वर अपने भक्तों को सदा सुख में ही रखता है, और वे भक्त सम्यक् स्वेच्छापूर्वक उस प्रभु के परमानन्द स्वरूप में विचरते हैं। कभी दुःख को प्राप्त नहीं होते। —आर्याभिविनय

२६. विघ्नों को दूर करने का एकमात्र उपाय-उपासना योग—जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व है। उसी में प्रेम और सर्वदा उसीकी आज्ञा पालन में जो पुरुषार्थ करता है, वही एक मात्र सम्पूर्ण विघ्नों का नाश करने का वज्ररूप (अमोध) शस्त्र है, अन्य कोई नहीं। इसलिए सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेम भाव से ईश्वर के उपासना योग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये। —ऋ०भा०भू०उ०प्र०

२७. ब्रह्मज्ञानी को प्राप्त ब्रह्मानन्द के लेश मात्र आनन्द से ही ब्रह्मादि आनन्दित हो रहे हैं—उस परमेश्वर को जानने, और उसका यथावत् योग होने से जो विद्वान् अर्थात् ब्रह्मज्ञानी को अखण्ड आनन्द मिलता है, उस आनन्द के एक लेशमात्र आनन्द से ही ब्रह्मादि देव आनन्दित हो रहे हैं।

—स०प्र० प्रथम सं० ३ समु०

२८. जो प्रभु की भक्ति नहीं करता वह कृतघ्न है—सब

मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अत्यन्त प्रीति से अवश्य करनी चाहिये। जो ईश्वर की उपासना नहीं करेगा, वह कृतघ्न कहलायेगा, क्योंकि ईश्वर ने हम लोगों पर अनेक उपकार किए हैं, उसने जितने भी जगत् में पदार्थ रचे हैं, वे सब हम जीवों के सुख हेतु ही रचे हैं।

—स०प्र० प्रथम सं० ७ समु०

२९. कौन फिर दुःख में नहीं गिरता—जो इस दुःख सागर संसार से बड़े भाग्य से छूटकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त भया है, जो यथावत् जानता है कि परमेश्वर के योग से भिन्न, दुःख ही दुःख है, सुख कभी नहीं। वह फिर इस दुःख सागर में कभी नहीं गिरता। —स०प्र०प्र०सं० ९ समु०

३०. परमात्म-मिलन का फल—जो नियम से आहार-विहार करने हारे, जितेन्द्रिय पुरुष एकान्त देश में परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं, वे तत्त्व ज्ञान को प्राप्त होकर नित्य ही सुख भोगते हैं। —य०भा० ११.४

३१. परमेश्वर के योग से सब तृष्णाएँ नष्ट हो जाती हैं—यह जीव तृष्णा के वश हो, परमेश्वर से विमुख होकर उससे भिन्न पदार्थों में सदा भटका करता है। परन्तु जब उसको परमेश्वर का योग प्राप्त हो जाता है, तब सब तृष्णा आदि दोष दूर हो जाते हैं। फिर वह पूर्ण काम और परमेश्वर में ही सदा रमण करता है। —स०प्र० प्रथम सं० ९ समु०

प्रणव-जप

१. प्राणों से प्यारा ओ३म् नाम—सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो! मेरे सुलक्षणों से युक्त, पुत्र के तुल्य प्राणों से प्यारा निज नाम 'ओ३म्' है। —य०भा० ४०,१७

२. प्रणव जप की विधि तथा लाभ—परमेश्वर के ओ३म् नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसीका अर्थ विचार सदा करना चाहिये। जिससे कि उपासक का मन एकाग्रता प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो, जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेम भक्ति सदा बढ़ती जाए। इससे उपासकों को यह भी फल होता है कि उनको अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति तथा अविद्या आदि क्लेशों और रोग आदि विघ्नों (अन्तरायों) का नाश भी हो जाता है। —ऋ०भा०भू०उ०प्र०

३. प्रणव जप का फल—जब शय्या-शायी होने लगो, तब प्रणव-पवित्र का जप करो, जब तक नींद न आए, जप करते रहो, यहाँ तक कि नाम स्मरण करते ही नींद आ जाए। इस प्रकार प्रणव-पवित्र के जप से साधक को उत्तमोत्तम फल प्राप्त होते हैं। उसकी वासनामय देह बदल जाती है। —श्रीम०प्र०

४. प्रणव जप की महिमा—आप नित्यप्रति प्रातः और सायं पवित्र प्रणव का जप और आराधना किया करें, यही हम लोगों का आश्रय और आधार है इसके चिन्तन से चित्त की सारी चंचलता दूर हो जाती है। पाप को धोने के लिये इससे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं। महामुनि जन इसी महामन्त्र से मन्मथोन्मथन करके परमात्मा में निमग्न रहा करते हैं। मनोवृत्तियों को एकाग्र कर प्रणव जप करने से कल्पनातीत परिणाम प्राप्त होता है। जब तुम चिरकाल पर्यन्त इस भक्ति योग को करते रहोगे तो समाधि के मधुमय-स्वादु फल को स्वयं ही आस्वादन करने लगोगे। उस समय आप की सब वासनाएँ शान्त हो जायेंगी। और सब कामनाएँ परम तृप्ति को प्राप्त कर लेंगी। —श्रीम०प्र०

५. जप का सामर्थ्य कैसे बढ़ता है—सब वर्णों और आश्रम के लोगों को चाहिये कि ब्रह्मचर्य से जप सामर्थ्य को बढ़ाकर अपने शारीरिक और आत्मिक बल को बढ़ावें। —उ०मं०

अष्टांग-योग

१. योग विद्या का महत्त्व–विना योग विद्या के कोई भी मनुष्य पूर्ण विद्यावान् नहीं हो सकता न ही पूर्ण विद्या के विना अपने स्वरूप तथा परमात्मा का ज्ञान कभी हो सकता है, और न ही इसके विना कोई न्यायाधीश (राजा) सत्पुरुषों के समान प्रजा की रक्षा कर सकता है। इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि इस योग विद्या का सेवन निरन्तर किया करें। –य०भा० ७.२८

२. यम–(अहिंसा) सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम-प्रीति से वर्तना, (सत्य) जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही बोले, करे और माने, (अस्तेय) स्वामी की आज्ञा के विना किसी भी पर पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी का नाम चोरी त्याग है, (ब्रह्मचर्य) विद्या पढ़ने के लिए बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना, और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह को करना, पर स्त्री, वेश्या आदि का त्याग करना, उपस्थेन्द्रिय का सदा नियमन करना, (अपरिग्रह) विषय वासना और अभिमान आदि दोषों से रहित होना, इन पांच यमों का ठीक ठीक अनुष्ठान करने से (साधक के हृदय में) उपासना का बीज बोया जाता है। –ऋ०भा०भू०

३. नियम–(शौच) सदा पवित्रता रखनी। वह भी दो प्रकार की है। एक भीतर और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि, धर्माचरण, सत्य भाषण, विद्याभ्यास, सत्संग आदि शुभ गुणों के आचरण से होती है। और बाहर की पवित्रता जलादि द्वारा शरीर, स्थान, मार्ग, वस्त्र, खाना, पीना आदि शुद्ध करने से होती है। (संतोष) जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना व दुःख और संकट में शोकातुर न होना, किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। (तप) जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ गुणों के आचरण रूप तप से निर्मल कर देना, (स्वाध्याय) मोक्ष विधायक वेद शास्त्रों का पढ़ना और ओंकार के जप और अर्थ विचार से ईश्वर का निश्चय करना, कराना, (ईश्वर प्रणिधान) सब सामर्थ्य

से अपने सब गुण, आत्मा और मन आदि को प्रेम भाव से ईश्वर के लिए अर्पण कर देना, ये पांच नियम उपासना का दूसरा अंग हैं। —ऋ०भा०भू०उ०प्र०

४. यम नियमों की अन्य प्रकार से संक्षिप्त व्याख्या—जो उपासना (योग) का प्रारम्भ करना चाहे, उसके लिए यही कर्त्तव्य है कि वह (अहिंसा) किसीसे वैर न रक्खे, सर्वदा सबसे प्रीति करे। (सत्य) सत्य बोले मिथ्या कभी न बोले (अस्तेय) चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे (ब्रह्मचर्य) जितेन्द्रिय हो विषय लम्पट न हो (अपरिग्रह) और निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे। —स०प्र० ७

५. नियम—(शौच) रागद्वेष को छोड़ भीतर बाहर सदा पवित्र रहें (सन्तोष) धर्म से, पुरुषार्थ करने से लाभ में प्रसन्नता, और हानि में अप्रसन्नता न करे, प्रसन्न होकर आलस्य छोड़ सदा पुरुषार्थ किया करे। (तप) सदा दुःख सुखों का सहन, और धर्म ही का अनुष्ठान करे, अधर्म का कभी नहीं, (स्वाध्याय) सर्वदा सत्य शास्त्रों को पढ़ें पढावे, सत्पुरुषों का संग करे, और 'ओ३म्' परमात्मा के इस पवित्र नाम का अर्थ विचार पूर्वक नित्य प्रति जप किया करे (ईश्वर-प्रणिधान) अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे। —स०प्र० ७

६. आसन—जिसमें सुख पूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो उसको आसन कहते हैं। जैसे पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयम्, पर्यंकासन, क्रौञ्चनिषदनम्, हस्तिनिषदनम्, उष्ट्रनिषदनम्, समासन, स्थिरसुखासन, सुखासन इत्यादि। अथवा जैसी रुचि हो वैसा ही आसन लगाकर बैठे। —ऋ०भा०म०

प्राणायाम

७. प्राणायाम की विधि तथा लाभ—प्राण को बल से (नासिका द्वारा) बाहर फैंककर, बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना (अर्थात्-रेचक करना) चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रखे, इससे प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है, जब घबराहट ही तब धीरे धीरे भीतर वायु को लेके, फिर भी वैसे ही करता जाय (अर्थात्) क्रमशः रेचक, बाह्य कुम्भक, पूरक तथा आभ्यन्तर कुम्भक करे (प्राणायाम) जितना

सामर्थ्य और इच्छा हो (उतना ही करे) और मनमें 'ओ३म्' का जप करता जाए। इस प्रकार करने से, आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।

८. प्राणायाम की विधि (दूसरा प्रकार)—नाभि के नीचे से अर्थात् मूलेन्द्रिय से लेके धैर्य पूर्वक अपान वायु को नाभि में ले आना। नाभि से अपान और समान को हृदय में ले आना, हृदय से उपर्युक्त दोनों और तीसरे प्राण इन तीनों को बलपूर्वक नासिका से फेंक देना चाहिये।

—स०प्र० प्रथमावृत्ति ३ समु०

९. प्राणायाम से बल, बुद्धि, पराक्रम और पुरुषार्थ की प्राप्ति—प्राणायाम द्वारा प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़ कर बुद्धि तीव्र और सूक्ष्म रूप हो जाती है, जो कि बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण कर लेती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त हो कर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता और सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेता है। —स०प्र० ३

१०. प्राणायाम से परमात्म स्वरूप की प्राप्ति—इसी प्रकार वारम्वार (प्राणायाम का) अभ्यास करने से, प्राण उपासक के वश में हो जाते हैं और प्राणों के स्थिर होने से मन, और मन के स्थिर (एकाग्र) होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है। इन तीनों अर्थात् (प्राण, मन और आत्मा) के स्थिर होने पर आत्मा के अन्दर जो आनन्द स्वरूप, अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये। जैसे मनुष्य जल में गोता मार कर ऊपर आता है और फिर गोता लगा जाता है। इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के स्वरूप में वारम्वार मग्न कर दे। —ऋ०भा०भू०उ०प्र०

११. प्राणायाम से चित्त एकाग्रता—प्राणायाम से चित्त स्थिर होता है, बुद्धि की वृद्धि होती है, शरीर, मन और आत्मा का बल बढ़ता है। सब प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं।

—श्रीम०प्र०

धारणा

१२. धारणा की विधि—जनकधारी लाल ने महाराज से पूछा—भगवान् यह चंचल मन इधर उधर भाग जाता है, इसे

कैसे एकाग्र किया जाए, और कहाँ एकाग्र किया जाए। महाराज ने उत्तर दिया–

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक जिस चक्र में आपका चित्त एकाग्र हो सके उसी में ठहरालो, यदि चित्त किसी प्रकार भी स्थिर न हो तो मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त प्रत्येक चक्र में चमकते हुए मणियों की धारणा करो, और उनके साथ 'ओम्' का जप करो अथवा त्रिकुटी में प्रकाशमय "बिन्दु" की कल्पना करके उसमें धारणा पूर्वक पवित्र ओम् का ध्यान करो। और ज्यों ज्यों आपकी धारणा स्थिर होती जाए, त्यों त्यों उस बिन्दुके खण्ड करते जाओ, यहाँ तक कि बिन्दु के विना ही आपकी धारणा ध्रुवता को धारण करले।

–श्रीमद्दयानन्दप्रकाश

ध्यान

१३. ध्यान करने की विधि–धारणा के पश्चात् उसी देश में ध्यान करने और आश्रय (शरण) लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश (ज्योति) और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना चाहिये कि जैसे समुद्र के बीच नदी प्रवेश करती है। उस समय एक ईश्वर को छोड़, किसी अन्य (विषय) का स्मरण नहीं करना चाहिये, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना चाहिये, इसी का नाम ध्यान है। –ऋ०भा०भू०उ०प्र०

१४. ध्यानावस्थित ही नित्यानन्द को प्राप्त करता है–जब ध्यानावस्थित मनुष्य के मन के साथ इन्द्रियाँ और प्राण ब्रह्म में स्थिर होते हैं, तभी वह (साधक) नित्यानन्द को प्राप्त होता हैं। –य०भा० २०.२७

१५. गायत्री मन्त्र द्वारा ध्यान–सन्ध्योपासना में गायत्री महामन्त्र के अर्थों पर विचार करना चाहिये। इस मन्त्र द्वारा सारे विश्व को उत्पन्न करनेवाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है, उसका ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है। और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है।

–उपदेशमंजरी

१६. बिना ध्यान के प्रभु के दर्शन दुर्लभ हैं–एक दिन एक भक्त ने महाराज से पूछा–भगवन् निराकार परमात्मा के दर्शन कैसे होंगे? महाराज ने उत्तर दिया–

जैसे सूक्ष्म रज कण सारे आकाश में छाए रहते हैं, परन्तु दृष्टि गोचर तभी होते हैं, जब सूर्य की किरणें झरोखे में से होकर उनको प्रकाशित करती हैं। इसी प्रकार परमेश्वर सर्वत्र परिपूर्ण है, किन्तु हृदय रूपी झरोखे में ध्यान किए विना उस देव के दर्शन दुर्लभ हैं। —श्रीम०प्र०

समाधि

१७. समाधि का स्वरूप—जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्नि रूप हो जाता है, उसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान (स्वरूप) में प्रकाशमय होकर, अपने शरीर को भी भूलकर आत्मा को परमेश्वर के प्रकाश, आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं। —ऋ०भा०भू०उ०प्र०

१८. प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि चारों का स्वरूप—ईश्वर में लौ लगाने को प्रत्याहार कहते हैं। मुख्य मुख्य स्थानों में चित्त को स्थिर करने का नाम धारणा है। आत्मा, मन और इन्द्रियों को किसी वस्तु में लगाकर उस वस्तु पर मनन करने का नाम ध्यान है। और ईश्वर में लय होने का नाम समाधि है। जब धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों एकत्र हो जाते हैं, तो उसे ही संयम कहते हैं।

१९. योगांगों के अभ्यास का फल—ये जना एकान्ते पवित्रे निरुपद्रवे देशे स्वासीना यमादिसंयमान्तानां नवाना-मुपासनांगानामभ्यासं कुर्वन्ति, ते निर्मलात्मानः सन्तः प्राज्ञाः आप्ताः, सिद्धाश्च जायन्ते। ये चैतेषां संगसेवे विदधति तेऽपि शुद्धान्तःकरणा भूत्वाऽऽत्मयोगजिज्ञासवो भवन्ति।

—ऋ०मा० १.४८।४

भाषार्थ—जो मनुष्य एकान्त, पवित्र तथा निरुपद्रव देश में भली प्रकार बैठकर यम से लेकर संयम पर्यन्त इन नौ उपासनांगों (योगांगों) का अभ्यास करते हैं, वे निर्मलात्मा होकर प्राज्ञ, आप्त और सिद्ध बन जाते हैं। और जो इन सिद्ध योगी जनों का संग तथा सेवा करते हैं, वे भी शुद्धान्तः करण होकर आत्मयोग के जिज्ञासु बन जाते हैं।

२०. परमेश्वर योगी जनों को दूर के समाचार तथा पदार्थों को भी जना देता है—हे मनुष्यो! वह परमेश्वर योगी जनों को वायु के द्वारा दूत के समान दूर के समाचार तथा पदार्थों को भी जना देता है। —ऋ०भा० ३.५५.९

२१. योग सिद्धियों का अभिमान नहीं करना चाहिये—जो युक्ताहार, विहार करनेवाले, वेदों को पढ़, योगाभ्यास कर अविद्या आदि क्लेशों को छुड़ा, योग की सिद्धियों को प्राप्त हो, और उनके अभिमान को भी छोड़ के कैवल्य को प्राप्त होते हैं, वे ब्रह्मानन्द का भोग करते हैं। —य०भा० १९.७४

२२. योग की सिद्धियाँ सत्य हैं—एक भक्त ने स्वामीजी से निवेदन किया। भगवन्! पातञ्जल शास्त्र का विभूति पाद क्या सच्चा है। महाराज ने उत्तर दिया—

आप व्यर्थ ही सन्देह करते हैं। योगशास्त्र अक्षरशः सत्य है। वह कोई पुराणों की सी कोरी कल्पना नहीं है, किन्तु क्रियात्मक और अनुभवसिद्ध शास्त्र है। दूसरी विद्याओं में उत्तीर्ण होने के लिए आप लोग कई वर्ष व्यय कर देते हैं। किन्तु इसके लिए यदि आप तीन मास भी मेरे पास निवास करें, और मेरे कथनानुकूल योगक्रियाएँ साधें, तो आप योगशास्त्र की सिद्धियों का स्वयं साक्षात् कर लेंगे। —श्रीम०प्र०

२३. कौन पुरुष शीघ्र सिद्धि को प्राप्त करता है—जैसे मेघ वर्षा समय में अपने जल के समूह से सब पदार्थों को तृप्त करता हुआ उन्हें उन्नत करता है वैसे ईश्वर भी योगाभ्यास करने के समय योगाभ्यास करनेवाले योगी के योग (बल) को अत्यन्त बढ़ा देता है।

कोई भी पुरुष परमात्मा की प्रेम भक्ति के विना योग सिद्धि को प्राप्त नहीं होता। और जो प्रेम भक्ति युक्त होकर योग बल से परमेश्वर का स्मरण करता है, उसको वह दयालु परमात्मा शीघ्र योग सिद्धि प्रदान करता है।

—य०भा० ७.४०.४३

२४. योगी अनेक शरीरों में प्रवेश कर सकता है—जो योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारण, ध्यान, समाधिरूप संयम) के बल को प्राप्त होकर, और अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके अनेक शरीर नेत्र आदि अंगों से देखने आदि कार्यों को कर सकता हैं अनेक पदार्थों वा धनों का स्वामी भी हो सकता हैं उस (ऐसे योगी) का हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिये। —य०भा० १७.७१

२५. अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर, उनमें आसक्त

नहीं होना चाहिये—जो पुरुष अविद्या में फंसे हैं, वे अत्यन्त अन्धकार अर्थात् जन्म, मरण, हर्ष और शोक आदि दुःख सागर में पड़े रहते हैं, इससे अलग कभी नहीं हो सकते। और विद्या अर्थात् नाना प्रकार के कर्मों से विषय भोगों की चाहना करना, तथा योगाभ्यास, तप और संयम से अणिमा आदि सिद्धियों में फंस के प्रतिष्ठा और अभिमान आदि दोषों से युक्त होना, इनमें जो रत रहते हैं वे उन कर्मी लोगों से भी अत्यन्त अन्धकार में पड़े हुए हैं। —स०प्र०प्र०सं० ९ स०

२६. स्त्रियाँ पतियों के योगाभ्यास में सहायक हों—यथोषा निर्मला, सर्वथा सुखप्रदा, योगाभ्यासनिमित्ता च भवति। तथैव स्त्रीभिर्भवितव्यम्॥ —ऋ०भा० १.४८.५

भावार्थ—जैसे उषा-प्रभात वेला निर्मल, सब प्रकार से सुखदायी और योगाभ्यास में सहायक होती है, वैसे स्त्रियों को भी अपने पति के योगाभ्यास में सहायक होना चाहिये।

सत्संग-कुसंग

१. गृहस्थी सत्कारपूर्वक अतिथि महानुभावों को अपने गृह पर लाकर उनसे उपदेश ग्रहण करें—गृहस्थों को चाहिये कि दूरस्थ भी उत्तम अतिथियों को उत्तम वाहनों, रथ आदि सवारियों पर बैठा उपदेश के लिए लावें, और अन्नादि से उनका स्वागत करें। —ऋ०भा० ५.१.१

२. विद्वानों का स्वभाव—जैसे बादल स्वयं छिन्न-भिन्न होकर भी दूसरों का सदा उपकार ही करते हैं। उसी प्रकार विद्वान् दूसरों के अपकार करने से छिन्न-भिन्न होकर भी उनका सदा उपकार ही करते हैं।

३. बुरी संगति का प्रभाव—जो लोग उस परमात्मा और आप्तजनों को छोड़कर दुष्ट मनुष्यों की संगत करते हैं, वे हमेशा दुःखी ही रहते हैं। —ऋ०भा० ६.२९.८

४. कुसंगी जनों को कभी विद्या प्राप्त नहीं होती—हे मनुष्यो! जो जन अपवित्र आहार विहार करनेवाले, विषयलम्पट, दूसरों की चुगली करनेवाले, और असत्पुरुषों का संग करनेवाले हैं, उनको कभी भी विद्या प्राप्त नहीं होती। और जो पवित्र आहार विहारवाले, जितेन्द्रिय, यथार्थ वक्ता, सत्पुरुषों का संग करनेवाले और पुरुषार्थ परायण हैं, उनको सब प्रकार की विद्या प्राप्त होती है। ऐसा अवश्य निश्चय जानो।

—ऋ०भा० ६.२८.४१

५. सत्संग और कुसंग—कभी नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी, छली आदि दुष्ट मनुष्यों का संग न करे। और जो सत्यवादी, परोपकार-प्रिय आप्त जन हैं, उनका सदा संग करे। —स०प्र० १० समु०

६. परमेश्वर तुल्य धार्मिक विद्वानों के सत्संग के बिना कोई भी सर्व सुखों को प्राप्त नहीं कर सकता—परमेश्वर के तुल्य धार्मिक विद्वान् के विना सब पदार्थों और सब प्रकार के सुखों का देनेवाला और कोई नहीं। —ऋ०भा० ५.२०.२

७. विद्वानों तथा संन्यासी महात्माओं का सत्कार—गृहस्थ स्त्री पुरुष कार्यकर्त्ता, सद्धर्मी, लोक-प्रिय, परोपकारी, सज्जन, विद्वान्, त्यागी, पक्षापातरहित संन्यासी जो सदा विद्या की वृद्धि और सब के कल्याणार्थ वर्तनेवाले हों, उनको नमस्कार, आसन,

अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, धन आदि के दान से उत्तम प्रकार से यथासामर्थ्य अवश्य सत्कार करे। —सं०वि०संन्यास०प्र०

८. विद्वानों के संग और सेवा से क्या क्या प्राप्त होता है—ये मनुष्या विद्वत्सेवया शुभगुणकर्मस्वभावान् प्राप्नुवन्ति ते वृद्धरक्षाचिरञ्जीविनः सुन्दरगृहाश्च भूत्वा शरीरात्मभ्यां पुष्टा जायन्ते।। —ऋ०भा० ६.२.५

भाषार्थ—जो मनुष्य विद्वानों की सेवा से शुभ गुण, कर्म, स्वभावों को प्राप्त करते हैं, वे वृद्ध जनों को (अपनी सेवा द्वारा) सुख पहुँचानेवाले दीर्घायु और सुन्दर गृहस्थवाले बनकर शरीर और आत्मा से सदा बलवान् और पुष्ट हो जाते हैं।

९. कुसंगति का प्रभाव—यतिः सदा सर्वत्र भ्रमणं कुर्यात्। गृहस्थश्चैनं सदैव सत्कुर्यादितः, उपदेशांश्च शृणुयात्।। —ऋ०भा० ७.१५.२

भावार्थ—संन्यासी महात्मा हमेशा सर्वत्र भ्रमण करता रहे। और गृहस्थ इन्हें (अपने गृह पर बुलाकर) इनका सदैव सत्कार करे। और इन से सदुपदेशों को ग्रहण करे।

१०. विद्वानों का सत्कार—हे मनुष्याः! ये सत्य-विद्या-धर्मप्रकाशका वेदविदः, अध्यापकोपदेशका विद्वांसो जगति सर्वान् मनुष्यादीनुन्नयन्ति, ते हि सर्वदा सर्वैः सत्कर्त्तव्या भवन्ति।।

भावार्थ—हे मनुष्यो! जो सत्य, विद्या, धर्म के प्रकाश करनेवाले, सकल वेदों के ज्ञाता, विद्वान्, अध्यापक और उपदेशक जगत् में मनुष्यादिकों को अपने सदुपदेशों द्वारा सब प्रकार से उन्नत करते हैं, वे ही सब प्रकार से सबको सत्कार करने योग्य हैं।

१२. विद्वानों से प्रीति तथा उनका संग—गृहस्थों को सब धार्मिक अतिथि लोगों के वा अतिथि लोगों को गृहस्थों के साथ अत्यन्त प्रीति रखनी चाहिये, किन्तु दुष्टों के साथ नहीं। तथा अतिथि विद्वानों के संग से परस्पर वार्तालाप कर विद्या की उन्नति करनी चाहियें। और जो परोपकार करनेवाले विद्वान् अतिथि लोग हैं, उनकी सेवा गृहस्थों को निरन्तर करनी चाहिये। —य०भा० ३.४२

मुक्ति का स्वरूप तथा उसकी प्रगति के उपाय

१. मोक्ष का लक्षण तथा उसका फल—मुक्ति अर्थात् ईश्वर प्राप्ति, ईश्वर की ओर जीव का आकर्षण होकर उसके परमानन्द में तल्लीन हो जाना, यही मुक्ति का लक्षण है। इस प्रकार तल्लीन होने से सहज ही में हर्ष और शोक दूर होकर सहजानन्द स्थिति प्राप्त होती है। सबको यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ईश्वर को छोड़ चाहे कितने ही दूसरे कर्म किए जाएँ परन्तु उनसे आत्मा मुक्त नहीं होता। मुक्ति के लिए जो कुछ साधन है, वह एक मात्र ईश्वर प्राप्ति ही कारण है।

२. मोक्ष प्राप्ति का साधन—ईश्वरोपासना, अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या की प्राप्ति, आप्तविद्वानों का संग, सत्य, विद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। —स०प्र०

३. मोक्ष के संस्कार कब उत्पन्न होते हैं—जब सब दोषों से अलग होकर ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है, तब कैवल्य अर्थात् मोक्ष धर्म के संस्कारों से चित्त परिपूर्ण हो जाता है। तब ही जीव को मोक्ष प्राप्त होता है।

—ऋ०भा०भू०

४. जीव को मोक्ष कब प्राप्त होता है—इस प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्यादि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों का निवारण करके, शुद्ध विज्ञान तथा धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से अपने आत्मा की उन्नति करके जीव मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। —ऋ०भा०भू०

५. मोक्ष के स्वरूप का साधन—जब मिथ्याज्ञान तथा अविद्या नष्ट हो जाती है, तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। फिर अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासनाएँ सब दूर हो जाती हैं। उनके नाश होने से फिर जन्म नहीं होता, जन्म न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। और दुःख के अभाव से परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सदा के लिए परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को शेष रह जाता है। इसी का नाम मोक्ष है। —ऋ०भा०भू०

६. मुक्ति के सुख को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन की सफलता है—हे मनुष्यो! तुम लोगों को चाहिये कि इस जगत् में मनुष्य का शरीर धारण करके विद्या, उत्तम शिक्षा, अच्छा स्वभाव, धर्म, योगाभ्यास और विज्ञान का सम्यक् ग्रहण करके मुक्ति सुख के लिए प्रयत्न करो, यही मनुष्य जीवन की सफलता है, ऐसा निश्चय जानों। —य०भा० ३५.२२

७. मोक्ष सुख किसको प्राप्त होता है—ये सत्यभावेन जगदीश्वरमुपासते तानीश्वरः सर्वतः संरक्ष्य धर्म्यगुण कर्मस्वाभावेषु प्रेरयित्वा शरीरात्मबलं प्रदाय मोक्षं नयति।

जो सच्चे हृदय से प्रभु की उपासना करते हैं, उनकी प्रभु सब प्रकार से रक्षा करके उन्हें धर्मानुकूल, गुण, कर्म, स्वभावों में प्रेरित कर और उनके शरीर और आत्मा को बलवान् बनाकर उन्हें मोक्ष प्रदान करते हैं। —ऋ०भा० ६.१५

८. मोक्ष प्राप्ति का साधन—विना शुद्ध कर्म, और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं हो सकता। अर्थात् पवित्र उपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्या भाषणादि कर्म, पाषाण मूर्त्यादि की उपासना और मिथ्या-ज्ञान से बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म, उपासना और ज्ञान से रहित नहीं हो सकता (अर्थात् कोई न कोई कर्म, किसी न किसी की उपासना और किसी न किसी पदार्थ का ज्ञान वह करता ही रहता है।) इसलिए सदा धर्म युक्त सत्य भाषणादि कर्म करना, और मिथ्या भाषणादि अधर्म को' छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है। जो अधर्म, अज्ञान आदि में फसा हुआ जीव है, वह बद्ध होने से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। —स०प्र० ९

९. मुक्ति और बन्ध किन किन बातों से होता है—परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, और बुरे व्यसनों से अलग रहने, सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपात रहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, इत्यादि सर्वोत्तम साधनों को करने, और जो कुछ करे वह पक्षपात रहित न्याय धर्मानुसार ही करे। इत्यादि साधनों से मुक्ति और इन से विपरीत ईश्वर-आज्ञा भंग करने आदि कर्मों से बन्ध होता है।

—स०प्र० ९ समु०

१०. मुमुक्ष-जनों के लिए मोक्ष प्राप्ति के कुछ अत्यन्त उपयोगी विस्तृत उपाय–जो मोक्ष प्राप्त करना चाहे, वह सत्पुरुषों के संग से "विवेक" अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करे, एक "अन्नमय" जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। दूसरा–"प्राणमय" जिन में प्राण अर्थात् जो भीतर से बाहर जाता, 'अपान' जो बाहर से भीतर आता, 'समान' जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता, 'उदान' कण्ठस्थ अन्न पान खैंचा जाता और बल पराक्रम होता। 'व्यान' जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है। तीसरा 'मनोमय' (कोश) जिसमें मन के साथ अहंकार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। चौथा (विज्ञानमय कोश) जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, और नासिका ये पांच इन्द्रियाँ हैं। जिनसे जीव ज्ञान आदि व्यवहार करता है। पांचवां–"आनन्दमय कोश" जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यूनानन्द, अधिकानन्द और (शरीर का) आधार कारण रूप प्रकृति है। ये पांच कोश कहाते हैं। इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।

तीन अवस्था–एक जागृत, दूसरी स्वप्न, और तीसरी सुषुप्ति अवस्था कहाती है। तीन शरीर हैं एक स्थूल (शरीर) जो यह दीखता है। दूसरा पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि इन सतरह तत्वों का समुदाय "सूक्ष्म शरीर" कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म मरण आदि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं एक भौतिक अर्थात् जो जीव के भूतों के अंशों से बना हैं दूसरा स्वाभाविक, जो जीव के स्वाभाविक गुण रूप हैं। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी में जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। तीसरा कारण शरीर, जिस में सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है। वह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है। चौथा–तुरीय शरीर वह कहलाता है, जिसमें समाधि द्वारा परमात्मा के आनन्द स्वरूप में जीव मग्न होते हैं। इसी समाधि संस्कार जन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है। इन सब कोशों और अवस्थाओं से जीव पृथक् है, क्योंकि जब मृत्यु होती है, तब सब कोई कहते हैं कि (जीव) शरीर से निकल गया।

यही जीव सब का प्रेरक, सब का धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता, भोक्ता कहाता है। जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता, भोक्ता नहीं तो उसको जानो कि वह अज्ञानी (और) अविवेकी है। क्योंकि विना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुःख का भोग वा पाप-पुण्य (वा) कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता। हाँ-इन के सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दुःख का भोक्ता है। जब इन्द्रियाँ अर्थों में, मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर, प्राणों को प्रेरणा करके, अच्छे वा बुरे कार्यों में लगता है, तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय (अच्छे कर्मों में) भीतर से आनन्द उत्साह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा (अन्तः प्रेरणा) है। जो कोई इस शिक्षा (अन्तः प्रेरणा) के अनुकूल वर्तता है, वही मुक्ति-जन्य सुखों को प्राप्त होता है। और जो विपरीत वर्तता है, वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

दूसरा साधन–"वैराग्य" अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जानता है उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना "वैराग्य" कहाता हैं। जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म स्वभाव को जान कर उसकी आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना सृष्टि से उपकार लेना है (वह भी) वैराग्य कहाता है।

तत्पश्चात्–

तीसरा साधन–"षट्क सम्पत्ति", अर्थात् ६ प्रकार के कार्य करना। एक 'शम' जिससे अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर सदा धर्माचरण में प्रवृत्त रखना। दूसरा-'दम' जिससे श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचार आदि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्व आदि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना। तीसरा-'उपरति' जिससे दुष्ट कर्म करनेवाले पुरुषों से सदा दूर रहना। चौथा-'तितिक्षा' चाहे निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष शोक को छोड़ मुक्ति साधनों में सदा लगे रहना। पांचवां-'श्रद्धा' जो वेदादि सत्य शास्त्र और इसके बोध से पूर्ण आप्त, विद्वान् और सत्य-उपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना। छठा-'समाधान' चित्त की एकाग्रता। ये छः मिलकर (षट्क सम्पत्ति रूप) तीसरा साधन कहलाता है।

चौथा साधन—"मुमुक्षुत्व" जैसे क्षुधातृषातुर को सिवाय अन्न, जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे विना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे पदार्थ से प्रीति न होना। ये चार साधन और चार अनुबन्ध अर्थात् साधनों के पीछे ये कर्म करने होते हैं (प्रथम अनुबन्ध-अधिकारी) इनमें से जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है वही मोक्ष का अधिकारी होता है।

दूसरा—'सम्बन्ध' ब्रह्म की प्राप्ति रूप मुक्ति प्रतिपाद्य और वेदादि शास्त्र प्रतिपादक को यथावत् समझकर (परस्पर) अन्वित करना।

तीसरा—'विषयी' सब शास्त्रों का प्रतिपादन विषय ब्रह्म, उसकी प्राप्तिरूप विषयवाले पुरुष का नाम विषयी है।

चौथा-प्रयोजन—सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्ति सुख का प्राप्त होना ये चार 'अनुबन्ध' कहाते हैं।

तदन्तर—

श्रवण चतुष्टय—प्रथम="श्रवण" जब कोई विद्वान् उपदेश करे तब शान्त चित्त होकर और ध्यान देकर सुनना। विशेष ब्रह्म विद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिये, क्योंकि यह (ब्रह्म विद्या) सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है।

दूसरा=मनन एकान्त देश में बैठ के सुने हुए का विचार करना। जिस बात में शंका हो पुनः पूछना, और श्रवण के समय में भी वक्ता और श्रोता उचित समझें तो पूछना और समाधान करना।

तीसरा—"निदिध्यासन" जब सुनने और मनन करने से संदेह रहित हो जाए, तब समाधिस्थ होकर उस बात को देखना, समझना कि वह जैसा सुना था और विचारा था वैसा ही है अथवा नहीं, इसे ध्यान योग से देखना।

चौथा—'साक्षात्कार' अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप गुण और स्वभाव हो, वैसा यथातथ्य जान लेना 'श्रवण-चतुष्टय' कहलाता है।

सदा तमोगुण अर्थात् क्रोध, मलिनता, आलस्य, प्रमाद आदि रजोगुण—अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेप आदि दोषों से अलग होके सतोगुण अर्थात् शान्त स्वभाव, पवित्रता, विद्या,

विचार आदि को धारण करे।

मैत्री–सुखीजनों में मित्रता, करुणा–दुःखीजनों पर दया, मुदिता–पुण्यात्माओं से हर्षित होना, उपेक्षा–दुष्टात्माओं में न प्रीति और न वैर करना। मुमुक्षु को चाहिये कि वह नित्य प्रति न्यून-से-न्यून दो घण्टा ध्यान अवश्य करे। जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों। देखो! अपने (आप हम सब) चेतन स्वरूप हैं इसीसे ज्ञान स्वरूप और साक्षी क्योंकि जब मन शान्त, चञ्चल आनन्दित या विषादयुक्त होता है, उसको यथावत् देखते हैं। वैसे ही इन्द्रियों तथा प्राण आदि के ज्ञाता, पूर्व दृष्ट के रमणकर्त्ता और एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता, धारणाकर्षणकर्त्ता और सबसे पृथक् हैं जो पृथक् न होते तो स्वतन्त्र कर्त्ता और इनके प्रेरक अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते (अतः सब मुमुक्षुजनों को) अविद्या, अज्ञान, अस्मिता (आत्मा से) पृथक् वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना, राग–सुख में अप्रीति, द्वेष–दुःख में प्रीति, और अभिनिवेश–मृत्यु के दुःख का भय, इन पांच क्लेशों को योगाभ्यास और विज्ञान से छुड़ाकर और ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिये। –स०प्र०समु० ९

विविध आध्यात्मिक उपदेश

१. कौन बड़ा है—अभिमानी पुरुष बड़ा नहीं होता, बड़ा वही है जिसने अहंकार को जीत लिया है। —श्रीम०प्र०

२. भगवत् कथा में नींद क्यों आती है—भगवत् कथा एक सुकोमल शय्या के समान है, फिर यदि उस पर नींद न आए तो और कहाँ आए। और नृत्य, गान आदि उत्तेजक पदार्थ आत्मा के लिए कांटों का बिछौना है, फिर भला उस पर नींद कैसे आ सकती है। —श्रीम०प्र०

३. विद्वान् पुरुष ही दुःख में शोकाकुल नहीं होते—सुख में तो मूर्ख और विद्वान् सभी आनन्दित होते हैं, परन्तु दुःख में तो केवल विद्वान् ही धैर्य धारण कर शोकाकुल नहीं होते।

—ऋषि का पत्रव्यवहार

४. स्वार्थी मनुष्य का हृदय पूर्णतया शुद्ध नहीं हो सकता—जो मनुष्य स्वार्थ बुद्धि छोड़, परमार्थ करने में प्रवृत्त नहीं होता, उसका हृदय पूर्णतया शुद्ध होना असम्भव है।

—ऋ०पत्र०

५. हारने और बुरा कर्म करनेवाले पर ताना न मारे—जो कोई हारे वा बुरा कर्म करे, उस पर कभी ताना न मारे, किन्तु ऐसा कहे देखो—भाई! मैं तुम से ऐसा बुरा कर्म करने की कभी आशा नहीं करता था। तुम ने ऐसे कुल और ऐसे के पुत्र होकर ऐसा अनुचित काम किया, इस पर मुझको बड़ा शोक है। हे भद्र! यदि तू ऐसा काम न करता तो ऐसे दुःखदाई दण्ड को प्राप्त क्यों होता।

—ऋषि निर्मित महाराणा सज्जनसिंहजी की दिनचर्या

६. विघ्न कब सुखनाशक नहीं होता—जब मनुष्य के हाथ में सर्वाधिकार, आरोग्यता, उत्तम संग, शुभ गुण, कर्म, स्वभाव होते हैं, तब तक कोई भी विघ्न सुख नाशक नहीं हो सकता। —ऋ०पत्र०

७. शुद्ध मनुष्य का मिलना दुर्लभ है—संसार में सभी पदार्थ सुलभ हैं, किन्तु शुद्ध मनुष्य का मिलना दुर्लभ है।

—ऋ०पत्र०

८. मनुष्य जीवन अति दुर्लभ है—यह अति दुर्लभ मनुष्य

जीवन धर्म के सेवन और अधर्म के छोड़ने, परमात्मा की भक्ति और परमानन्द के भोगने के लिए है। —ऋ०पत्र०

९. कौन मनुष्य 'महाशय' होते हैं—वे ही मनुष्य महाशय होते हैं, जो पाप कर्मों और दूसरों को पीड़ा देने के कार्यों को छोड़ कर, सब प्राणियों के साथ अपनी आत्मा के समान व्यवहार करते, और सब के सुख के लिए अपने शरीर, वाणी और आत्मा को लगा देते हैं। —ऋ०भा०

१०. योगी तथा संसारी मनुष्य में अन्तर—उपासक, योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष शोक रहित, आनन्द से प्रकाशित होकर सदा उत्साह और आनन्द युक्त ही रहती है, और सांसारिक पुरुष की वृत्ति सदा हर्ष, शोकरूप दुःख सागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की वृत्ति तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती ही जाती है। और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अंधकार में ही फसती जाती है। —उपदेशमंजरी

१४. सुख प्राप्ति के सुन्दर उपाय—जो मनुष्य प्रातःकाल परमेश्वर की उपासना, अग्नि होत्र, ऐश्वर्य की उन्नति, प्राण और अपान की पुष्टि, अध्यापक, उपदेशक और विद्वानों का सत्संग, औषधि का सेवन, और जीवात्मा को प्राप्त करने वा जानने का प्रयत्न करते हैं, वे सब सुखों से सुशोभित होते हैं। —य०भा० ३४.३४

१५. धर्मात्मा कौन हैं—वे ही जन धर्मात्मा हैं, जो अपने आत्मा के सदृश सम्पूर्ण प्राणियों को जानें, किसी से भी द्वेष न करें और मित्र के सदृश सदा सबका सत्कार करें।

१६. केऽसुराः के वाऽऽर्य्याः सन्ति। (कौन असुर और कौन आर्य हैं)—त एवासुरा दैत्याः पिशाचा दुष्टा मनुष्याः (सन्ति) य आत्मन्यन्यद् वाच्यन्यत् कर्मण्यन्यदाचरन्ति। ते न कदाचिद् दुःखसागरादुत्तीर्य आनन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति॥ ये च यदात्मना तन्मनसा यन्मनसा तद्वाचा यद् वाचा तत् कर्मणाऽनुतिष्ठन्ति त एव देवा आर्याः सौभाग्यवन्तोऽखिलजगत् पवित्रयन्त इहामुत्राऽतुलं सुखमश्नुवते। —य०भा० ४०.६

भाषार्थ—वे ही असुर, दैत्य, राक्षस, पिशाच और दुष्ट मनुष्य हैं, जो आत्मा में और, वाणी में और, कर्म में और आचरण करते हैं। वे लोग कभी भी दुःखसागर से पार होकर आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। और जो जैसा आत्मा से

वैसा मन से, जैसा मन से वैसा वाणी से, जैसा वाणी से वैसा ही कर्म से आचरण करते हैं, वे ही देव, आर्य और सौभाग्यशाली होते हैं। —य०भा० ४०.६

१७. वृद्ध कौन हैं—वे ही वृद्ध कहलाते हैं, जो सदा सत्य बोलते हैं सब का उपकार करके अपने आत्मा के समान उन्हें सुख पहुँचाते हैं और कभी भी धर्म के विरुद्ध आचरण नहीं करते। —ऋ०भा० ५.२०.२

१८. संसार में कौन उत्तम पुरुष है—वही उत्तम पुरुष है जो आप्त पुरुषों की सेवा में तत्पर, सम्पूर्ण मनुष्यों को सद्बुद्धि प्रदान करनेवाला, गौ के समान सत्योपदेश रूपी दुग्धामृत का पान करानेवाला, अविद्या आदि पंच क्लेशों से सदा पृथक् रहनेवाला है। ऐसे महापुरुष का ही सदा सत्संग करना चाहिये। —ऋ०भा० ५.४४.३

१९. संसार में कौन सुखी है—जो सूर्य के सदृश विद्या (ज्ञान), माता के सदृश कृपा, नदी के सदृश उपकार, और खम्भों के समान निश्चल धारणा करते हैं वे ही श्रीमान् और सदा सुखी होते हैं। —ऋ०भा० ५.४५.२

२०. विद्वान् निर्मोही होता है—जैसे सूर्य मेघ का कारण होकर भी (मेघ से) पृथक् स्वरूप है, उसी प्रकार विद्वान् सर्वत्र वास करता हुआ भी मोह से रहित होता है। —ऋ०भा० ५.६१.१९

२१. मूर्खों के अपराध सहन करके भी विद्वान् उनके सुख के लिए ही प्रयत्न करे।

ये विद्वांसो मूर्खैः कृतापराधान् सोढ्वा सर्वेषां सुखाय प्रयतन्ते त एव सर्वेषां हितकारिणः सन्ति।।

—ऋ०भा० ६.१.१

भाषार्थ—जो विद्वान् मूर्खों के लिए अपराधों को भी सहकर सदा उन के सुख के लिए ही प्रयत्न करते हैं, वे ही सर्व हितकारी पुरुष होते हैं। —ऋ०भा० ६.१.१

२२. अधार्मिक जन निष्ठुर होते हैं—जैसे सूखे हुए पार्थिव पदार्थ नीरस होते हैं, वैसे ही अविद्वान् और अधार्मिक जन निष्ठुर अर्थात् दया, कोमलता और करुणा से सदा रहित होते हैं। —यजुः० भा० ५.२०

२३. विद्वानों की सेवा का फल—जो मनुष्य विद्वानों की सेवा द्वारा शुभ गुण, कर्म, और स्वभाव को प्राप्त कर लेते

हैं। वृद्धों को सुख देनेवाले ऐसे लोग चिरञ्जीवी और सुन्दर गृहस्थोंवाले हो कर शरीर, मन और आत्मा से सदा बलवान् रहते हैं। —यजुः० भा० ६२.५

२४. पामर मनुष्य कौन है—वे ही इस संसार में पशु के तुल्य पामर जन हैं, जो सदा स्त्री में ही आसक्त रहते हैं। —ऋ०भा० ७.१८.८

२५. बिना ईश्वर उपासना के दुःख दूर नहीं हो सकता—किसी भी मनुष्य को परमेश्वर की उपासना के विना शरीर, आत्मा और अपत्य (सन्तान) सम्बन्धी दुःख दूर होकर सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

२६. स्वर्ग और नरक क्या है—यही (मुक्ति का) सुख विशेष ही "स्र्वग" और विषय-तृष्णा में फंस कर दुःख विशेष का भोग करना ही "नरक" कहलाता है। 'स्व' सुख का नाम है, और जिसमें सुख को प्राप्त हों वह स्वर्ग, और इस के विपरीत दुःख का नाम ही नरक है। जो सांसारिक सुख है, वह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द मिलता है, वह विशेष 'स्वर्ग' कहलाता है। सब जीव स्वभाव से ही सुख प्राप्ति की इच्छा, और दुःख का वियोग करना चाहते हैं। परन्तु जब तक धर्म नहीं करते, और पाप नहीं छोड़ते, तब तक उनको सुख का मिलना और दुःख का छूटना असम्भव है। —स०प्र० ९ समु०

२७. इन्द्रिय निग्रह—मनुष्य का यही मुख्य कर्त्तव्य है कि जो इन्द्रियाँ चित्त को हरण करनेवाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको (विषयों) से रोकने में सदा प्रयत्न करे। जैसे सारथी घोड़ों को रोक के शुद्ध मार्ग पर चलाता है, इसी प्रकार इन्द्रियों को अपने वश में करके, अधर्म मार्ग से हटाकर, धर्म मार्ग पर सदा चलाया करे। क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चय ही दोष का भागी बनता है। और जब इन को जीतकर धर्ममार्ग पर चलाता है तब अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करता है। यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में घृत और इन्धन डालने से वह बढ़ती ही जाती है, वैसे ही कामनाओं के उपभोग करने से वे कामनाएँ कभी शांत नहीं होती, किन्तु सदा बढ़ती ही जाती हैं। इसलिए मनुष्य को विषयासक्त कभी नहीं होना चाहिये। —स०प्र० समु० १०

२८. जितेन्द्रिय किसे कहते हैं–जितेन्द्रिय उसे कहते हैं, जो स्तुति सुन के हर्ष, निन्दा सुन के शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख, और बुरे स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देख कर प्रसन्न और बुरे रूप को देख कर अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, तथा सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता। –स०प्र० समु० १०

२९. तप का स्वरूप–यथार्थ शुद्ध भाव, सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना, मन को अधर्म में न जाने देना, बाह्येन्द्रियों को पापाचरणों में जाने से रोकना, अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन से सदा शुभ कर्मों का आचरण करना, वेदादि सत्य विद्याओं का पढ़ना, पढ़ाना, वेदानुकूल आचरण करना आदि उत्तम धर्मयुक्त कर्मों का नाम तप है। –स०प्र०समु० ११

३०. तीर्थ–वेदादि सत्य शास्त्रों का पढ़ना, पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास निर्वैर, सत्यभाषण, सत्य करना, ब्रह्मचर्य पालन, आचार्य, अतिथि, माता, पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना, शांति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान, विज्ञान आदि ये सब शुभ गुण और कर्म दुःखों से तारनेवाले होने से तीर्थ कहलाते हैं। –स०प्र०समु० ११

३१. सुपात्र के लक्षण–जो ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, वेदादि विद्या के पढ़ने पढ़ानेवाले, सुशील, सत्यवादी, परोपकार प्रिय पुरुषार्थी, उदार, विद्या, धर्म की निरन्तर उन्नति करनेवाले, धर्मात्मा, शांत, निन्दा स्तुति में हर्ष, शोकरहित, निर्भय, उत्साही, योगी, ज्ञानी, सृष्टिक्रम-वेदाज्ञा-ईश्वर के गुण कर्म स्वाभानुकूल आचरण करनेवाले, न्याय की रीति से युक्त, पक्षपात रहित, सत्योपदेश और सत्य शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने हारे, किसी की लल्लो चप्पो अर्थात् खुशामद न करनेवाले, (जिज्ञासुजनों के) प्रश्नों के यर्थाथ समाधान कर्ता, अपने आत्मा के तुल्य अन्यों का भी सुख दुःख हानि लाभ समझनेवाले। अविद्यादि क्लेश, हठ, दुराग्रह, अभिमानरहित, अमृत के समान अपमान और विष के समान मान को समझनेवाले, सन्तोषी, जो कोई प्रीति से जितना देवे उतने से ही प्रसन्न रहनेवाले, एक बार आपत्काल में मांगने पर भी न देने वा मना करने पर भी दुःख व बुरी चेष्टा न करना, वहाँ से झट लौट जाना, उसकी निन्दा न करना, सुखीजनों के साथ मित्रता दुःखियों पर करुणा, पुण्यात्माओं

से आनन्द और पापियों से उपेक्षा अर्थात् राग द्वेष रहित, गम्भीराशय, सत्यपुरुष, धर्म से युक्त, और सर्वथा दुष्टाचार से रहित, अपने तन, मन धन को समर्पित करनेवाले इत्यादि जो शुभ गुण युक्त हैं, वे सुपात्र कहलाते हैं। —स०प्र०समु० ११

३२. कुपात्र के लक्षण—जो छली, कपटी, स्वार्थी, विषयी, काम, क्रोध, मोह से युक्त, पर हानि करनेवाले, लम्पटी, मिथ्यावादी, अविद्वान् कुसंगी आलसी, जो कोई दाता है, उसके पास वार-वार जाकर मांगना, धरना देना, मना करने पर भी हठ करना, सन्तोष न होना, जो न दे उसकी निन्दा करना, शाप और गाली प्रदान करना, अनेक वार सेवा करने पर भी यदि एक वार वह सेवा न करे, तो उस का शत्रु बन जाना, ऊपर से साधु का वेश बना लोगों को बहका कर ठगना, सबको फुसला-फुसलाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना। रात-दिन भीख मांगने में ही प्रवृत्त रहना। निमन्त्रण देने पर यथेष्ट भांगादि मादक द्रव्य खा, पी कर बहुत मिष्टान्न माल भी खा जाना। पुनः उन्मत्त होकर प्रमादी बनना। सत्य मार्ग का विरोध और असन्मार्ग में अपने प्रयोजनार्थ चलना, अपने चेलों को केवल अपनी ही पूजा करने का आदेश देना, सद्विद्या आदि पुण्य प्रवृत्तियों का विरोध करना, जगत् के व्यवहार अर्थात् स्त्री पुरुष, माता-पिता, सन्तान, राजा-प्रजा इष्ट, मित्रों में ये सब मिथ्या हैं, यह कह कर अप्रीति कराना, इत्यादि दुष्ट उपदेश देना कुपात्रों के लक्षण हैं। —स०प्र०समु० ११

३४. पराये दोष न देखकर पहिले अपने दोषों को देखो—बहुत मनुष्य ऐसे हैं, जिन्हें अपने दोष तो नहीं दीखते, किन्तु दूसरों के दोष देखने में सदैव तत्पर रहते हैं। किन्तु यह न्याय की बात नहीं, क्योंकि प्रथम अपने दोषों को देख, उन्हें निकालने के पश्चात् दूसरों के दोषों पर दृष्टि देकर उन्हें निकालना चाहिए। —स०प्र० अनुभूमिका २

३५. तप का लक्षण—यथार्थ का ग्रहण, सत्य मानना, सत्य बोलना, वेदादि सत्यशास्त्रों का सुनना, अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना, क्रोधादि के त्याग से शांत रहना, विद्यादि शुभ गुणों का दान करना, अग्निहोत्रादि और विद्वानों का संग करना, जितने भूमि अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकों में जो पदार्थ हैं, उनका यथाशक्ति ज्ञान करना, और योगाभ्यास,

एक ब्रह्म की उपासना यह सब कर्म करना ही तप कहलाता है।
—संस्कारविधि, वेदारम्भ संस्कार

३६. सद्‌गृहस्थ का कर्त्तव्य—सदा स्त्री-पुरुष १० बजे शयन और रात्रि के पहले पहिर, वा ४ बजे (अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त) में उठकर, प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके, धर्म एवं अर्थ का विचार करें, और धर्म एवं अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो, तथापि धर्म युक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें, किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए आहार, व्यवहार, औषध सेवन सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक वा पारमार्थिक कर्तव्य कर्म की सिद्धि के लिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना भी नित्य किया करें कि जिससे परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महा कठिन काम भी सुगमता से पूर्ण हो सके। इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना करके, पश्चात् शौच, दन्तधावन, मुख प्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एक कोश व डेढ़ कोश एकान्त जंगल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की सूर्य उदय पर्यन्त उपासना किया करें। —सं०वि०गृ०प्र०

३७. चारों आश्रमों का कर्त्तव्य—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी आदि सब मनुष्यों को योग्य है कि धर्म का पालन और अधर्म का परित्याग सदा किया करें। किसी से वैर बुद्धि करके उसके अनिष्ट करने से कभी न बर्तें। सुख दुःख हानि लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ें, किन्तु सदा धैर्य ही से धर्म में स्थिर रहें। —सं०वि०गृ०प्र०

३८. परहानि करना मनुष्यत्व नहीं है—सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंगुर जीवन में परहानि करके लाभ से स्वयं वंचित रहना, और अन्यों को रखना मनुष्यपन से सर्वथा बहिः है।
—स०प्र० अनुभूमिका ४

३९. धर्म का स्वरूप—किसी से वैर बुद्धि करके, उसके अनिष्ट करने में कभी न वर्तना, सुख-दुख, हानि, लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना। किन्तु धैर्य ही से कार्य में सदा स्थिर रहना, निन्दा स्तुति, मान, अपमान का सहन करना, मन को सदा अधर्म से हटा कर धर्म में ही प्रवृत्त रखना, मन, कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म के द्वारा पर द्रव्य का स्वीकार न करना, राग, द्वेष आदि के परित्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को

शुद्ध रखना, श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्म से हटा के धर्म में ही सदा चलाना, वेदादि सत्य विद्या, ब्रह्मचर्य, सत्संग करने और कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि के त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना, जिस से पृथिवी से परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का यथार्थ बोध हो, उस सत्यविद्या का प्राप्त करना, सत्य जानना, सत्य करना, क्रोध आदि दोषों का परित्याग कर शान्त्यादि गुणों को धारण करना धर्म कहलाता है। –सं०वि०गृ०प्र०

४०. वानप्रस्थ का कर्त्तव्य–गृह का परित्याग कर और अग्नि होत्र की सामग्री सहित जंगल में जाकर एकान्त में निवास करे। योगाभ्यास, शास्त्रों का विचार, महात्माओं का सत्संग करके आत्मा और परमात्मा का साक्षात् करने में सदा प्रयत्न किया करे। –सं०वि०वा०प्र०

४१. संन्यासी का कर्त्तव्य–जो संन्यास-आश्रम ग्रहण करे, वह धर्माचरण सत्योपदेश, योगाभ्यास, शम, दम, शांत, सुशीलता, विद्या, विज्ञान आदि शुभ गुण, कर्म स्वभाव से युक्त होकर, और परमात्मा को अपना सहायक मान कर अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर, प्राण, मन, इन्द्रियों आदि को अशुद्ध व्यवहार से हटा सदा शुद्ध व्यवहार में चला कर पक्षपात, कपट, अधर्मव्यवहारों को छोड़, अन्य के दोषों को उपदेश आदि से छुड़ा कर स्वयं आनन्दित हो के सदा सब मनुष्यों को आनन्द ही पहुँचाता रहे। –सं०वि०स०प्र०

४२. पर हानि पशुता है–जैसे बलवान् पशु निर्बलों को मार डालते, और दुःख देते हैं। ऐसा ही कर्म यदि मनुष्यजन्म पाकर किया तो यह मानुषी स्वभाव के विपरीत है और पशुओं के समान हैं जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है, वही मनुष्य कहा जाता है। और जो स्वार्थ वश पर हानि पर तुला रहता है, वह तो मानों पशुओं का भी बड़ा बन्धु है। –स०प्र०

४३. परमेश्वर से ही भय करो–भय तो एक परमेश्वर से ही करना चाहिये, अन्य किसी से नहीं क्योंकि परमेश्वर सब काल में सब बातों को जानता है। –सं०प्र०प्र०सं०

४४. ज्ञानी जनों के पंचमहायज्ञ–जितने भी ज्ञानी पुरुष हैं, वे पंच महायज्ञों को ज्ञानक्रिया से ही करते हैं। बाह्यचेष्टा से नहीं। क्योंकि वे यज्ञों के वास्तविक तत्व को जानते हैं। अतः उनकी चाहे यज्ञों की बाह्य क्रिया न भी दीख पड़े, तो भी वे ज्ञान और योगाभ्यास से विषयों को इन्द्रियों में होम

कर देते हैं, तथा इन्द्रियों को मन में, और मन को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा में युक्त कर देते हैं। अतः ऐसे ज्ञानीजनों को बाहर की चेष्टा करना आवश्यक नहीं। जिनके हृदय, मन और आत्मा सर्वथा शुद्ध हो गए हैं, उनका बाह्य आडम्बर करना आवश्यक नहीं। बाह्य-क्रिया तो उन लोगों के लिए है, कि जिनके हृदय और आत्मा शुद्ध नहीं हुए। वे अग्नि होत्र आदि बाह्य-क्रियाओं को अवश्य करें क्योंकि इनके किए विना हृदय शुद्ध नहीं होता। —स०प्र०प्र०सं०समु० ४

४५. जो प्राणी मृत्यु का ध्यान करता है, वह पापों में लिप्त नहीं होता—जो जीव यह विचार करेगा कि मुझे मरना अवश्य है, अतः मुझे पाप कर्म नहीं करने चाहियें। वह जीव सदा विचार पूर्वक ही कर्म करेगा। और कभी भी पापों में लिप्त न होगा। —स०प्र०प्र०सं०समु० ७

४६. ईश्वर ही सारे विश्व का धारक है—सब आकर्षण, और धारण करनेवालों का धारक एक मात्र परमेश्वर ही है, अन्य कोई भी नहीं। —स०प्र०प्र०सं०समु० १०

४७. किन के बिना मनुष्य को सुख नहीं मिलता—पुरुषार्थ, सत्य धर्म का अनुष्ठान, सत्यविद्या का ग्रहण, जितेन्द्रियता, सत्संग, सद्विद्या, और परमेश्वर की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा इनके विना जीव को कभी भी सुख नहीं होता।

४८. आचार किसे कहते हैं—राग द्वेष आदि दोषों को हृदय से छोड़ देना, और सज्जनता प्रीति आदि गुणों को धारण कर लेना ही आचार है। —स०प्र०प्र०सं०समु० १०

४९. हम संसार में आकर क्या करें—विद्वान् लोगों को चाहिये कि इस जगत् में आकर दो काम अवश्य करें। प्रथम-ब्रह्मचर्य और जितेन्द्रिय आदि की शिक्षा से अपने शरीर को रोग रहित, बल से युक्त और पूर्ण अवस्था (आयु) वाला बनाएँ। दूसरा सदा-विद्या और सत्कर्मों द्वारा आत्मा का बल भली प्रकार से बढ़ावें। जिससे सब मनुष्य शरीर और आत्मा के बल से युक्त होकर सब काल में सदा आनन्द का ही भोग करें।

५०. किनके संकल्प सत्य होते हैं—जो मनुष्य प्रयत्न के साथ सब विद्याओं को पढ़ और पढ़ा के वार-वार सत्पुरुषों का संग करते हैं, कुपथ्य और विषय के त्याग से शरीर तथा आत्मा के रोग को हटा कर नित्य पुरुषार्थ का अनुष्ठान

करते हैं। उन्हीं के संकल्प सत्य होते हैं, अन्यों के नहीं।

५१. सुखी गृहस्थ कौन है–जिन कुमार और कुमारियों की माताएँ विद्याप्रिय विदुषी हैं, वे ही (सन्तान) निरंतर सुख को प्राप्त होते हैं। और जिन माता पिताओं के सन्तान विद्या, उत्तम शिक्षा और ब्रह्मचर्य सेवन से शरीर और आत्मा के बल से युक्त धर्म का आचरण करनेवाले हैं वे (माता पिता) ही सदा सुखी होते हैं।

५२. ज्ञान प्राप्ति के अधिकारी कौन हैं–हे मनुष्यो! जो लोग अपवित्र आहार विहारवाले, विषय लम्पट, चुगलखोर, सदा कुसंग करनेवाले हैं वे कभी भी विद्या को प्राप्त नहीं होते। और जो पवित्र आहार विहारवाले, जितेन्द्रिय, यथार्थवक्ता सत्संगी और पुरुषार्थी होते हैं, उन्हें सब ओर से विद्या की प्राप्ति होती है। –ऋ०भा० ६.२८.४

५३. दुर्व्यसन परित्याग–यह निश्चय है कि दुष्टव्यसन में फसने से मर जाना अच्छा है। क्योंकि जो दुष्टाचारी मनुष्य है, वह अधिक जीयेगा तो अधिक पाप करके नीचे-नीचे गति अर्थात् अधिक दुःख को प्राप्त करता जायेगा। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त गुण-कर्म-स्वभावों में वर्त के सदा शुभ काम किया करे।

५४. धर्मात्मा और उपकारी जनों को संसार में भय नहीं होता–जो जन धर्मात्मा और सब का उपकार करनेवाले होते हैं उनको कहीं भी भय नहीं होता, जिन्होंने अपने शत्रु को जन्म ही नहीं दिया, उनका संसार में कोई भी शत्रु नहीं होता।

५५. कौन मनुष्य सदा प्रसन्न रहते हैं–जो लोग सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग में परम आनन्दित होते हैं, वे ही गुण ग्राहक पुरुष उत्तम विद्वान् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी फलों को प्राप्त होकर सदा प्रसन्न रहते हैं।

५६. सत्यवादी सुख और मिथ्यावादी सर्वदा दुःख को ही प्राप्त होता है–मिथ्या बोलने, मानने और करनेवाले को इस जन्म और पर जन्म में सुख वा प्रतिष्ठा नहीं मिलती और धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी मनुष्य थोड़े से जीवन में ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष फलों को प्राप्त करता और मिथ्यावादी, मिथ्यामानी और अहितकारी सर्वदा दुःख को ही प्राप्त करता है।

ऋषि के कतिपय अन्य अमृतमय उपदेश

१. वीर्य रक्षा—वीर्य रक्षा करने में आनन्द और नाश करने में दुःख है। देखो! जिसके शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। वीर्य रक्षा की यही रीति है कि—विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग सदा पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त करें।

जो तुम सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण तथा वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त न होगा। —स०प्र०

२. भारत की उन्नति का उपाय—एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य की प्राप्ति ही भारत की पूर्णोन्नति में साधक है। कड़े तथा खरे उपदेशों से जाति को जगा कर, कुरीतियों और कुनीतियों को नष्ट करना ही मेरे खण्डन का एक मात्र उद्देश्य है। इसी लिए मैं जाति के हित के लिए अनेक प्रकार के कष्ट, गालियाँ और विष पान आदि भी सह लेता हूँ। —उपदेशमंजरी

३. कौन देश सौभाग्यशाली है—जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या, और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यशाली है। —सत्यार्थप्रकाश

४. संस्कृत भाषा का महत्त्व—ईश्वर में जैसा अनन्त आनन्द है उसी प्रकार संस्कृत भाषा अनन्तानन्द है। कहिये! इस भाषा के सदृश मृदु, मधुर और व्यापक सर्व भाषाओं की जननी अन्य कौन सी भाषा है। —उपदेशमंजरी

५. भारतवर्ष की अवनति का कारण—ज़ब तक सब ऋषि, मुनि, राजा, महाराजा आर्य लोग ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या पढ़कर ही स्वयम्वर विवाह किया करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में ही पराधीन अर्थात् माता, पिता के आधीन विवाह होने लगा तब से क्रमशः आर्यावर्त्त देश

की हानि होती चली आ रही है। —उपदेशमंजरी

६. पितर और पितृयज्ञ—सुनीति, धर्म, सचाई और सच्चरित्रता आदि गुणों से अत्यन्त सहिष्णु महात्मा हुए हैं। उन्हीं को अपने तपोबल के प्रभाव से वसु, रुद्र और आदित्य आदि की पदवियाँ मिला करती थीं। ऐसे ऋषि ही सच्चे कहलाते थे, और उन का आदर सत्कार करना ही पितृ-यज्ञ कहलाता था। —उपदेशमंजरी

७. कौन सा धर्म मानने योग्य हैं—जिस धर्म को आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी परोपकारक, पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं, वही सबको मन्तव्य और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं है। —स०प्र०

८. मनुष्य किसे कहते हैं—मनुष्य उसे कहना चाहिये जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख, हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरें और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुण रहित क्यों न हो, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति, अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहाँ तक हो सके अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सदा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना भी दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले चले जावें, परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। —स०प्र०

१०. राजा का स्वरूप—राजा उसी को कहना चाहिये जो शुभ, गुण, कर्म, स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपातरहित, न्याय, धर्म की सेवा करे, तथा प्रजाओं में पितृवत् वर्ते, और उस को पुत्रवत् मान के उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे। —स०प्र०

११. प्रजा का स्वरूप—प्रजा उस को कहते हैं, जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करके पक्षपात रहित, न्याय, धर्म के सेवन से सज़ा और अपनी सदा उन्नति ही चाहती है।

१२. वीर्यहीन मनुष्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है—जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक, महाकुलक्षणी और ज़िसको प्रमेह आदि रोग होता है, वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह,

धैर्य, बल, पराक्रम आदि गुणों से रहित होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। —स०प्र० २ समु०

१३. काम वासना जीतने का उपाय—काम वासना जीतने का यह उपाय है कि एकान्त स्थान में रहे, नाच आदि कभी न देखे, अनुचित स्वरूप का देखना, अनुचित शब्द का सुनना और अनुचित वस्तुओं का स्मरण करना परित्याग कर देवे, स्त्रियों की ओर न निहारे, नियम पूर्वक जीवन व्यतीत करे। इन उपायों से कामवासना मन्द हो जाती है, मनुष्य जितना भी वासना की तृप्ति का यत्न करता है, वह शान्त न होकर, उतनी अधिक बढ़ती चली जाती है, इसलिए विषय वासना का चिन्तन भी न करे। जितेन्द्रिय बनने के अभिलाषी को भगवान् के पवित्र प्रणव (ओ३म्) नाम का जप करते रहना चाहिये। —श्रीम०द०

१४. वेश्या गमन से हानियाँ (युवकों को उपदेश)—सौम्य युवको! वैसे तो व्यसन सभी बुरे हैं। परन्तु वेश्या सबसे अधिक नाशकारिणी है। इस व्यसन से सुरापान की भी बान सहज में पड़ जाती है। सभ्यवेश, सभ्यभाषा, सभ्याचार आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। कुलाचार पर कठोर कुठाराघात हो जाता है। रात दिन राग-रंग में मग्न रहने से सद्व्यवहार और सद्बुद्धि का नाश होने लगता है। ऐसा व्यसनी धर्म, कर्म से सदा दूर भागता है। वारांगना अपने वशीभूत जन के मन को कृत्रिम प्रेम से, बनावटी बातों से और हाव-भाव से सदा कामोत्तेजित ही बनाए रखती है। जिससे व्यसनी अल्प काल में ही निस्तेज, निर्वीर्य और जीर्ण, शीर्ण शरीरवाला हो जाता है। जब स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तो वह बात तक भी नहीं पूछती। —श्रीम०प्र०

१५. अपने शरीर को बलवान् बनाओ—खान पान की तरह व्यायाम भी नित्य करना चाहिये। बलवान् मनुष्य सदा सुखी और प्रसन्न रहता है। निर्बल मनुष्य का जीवन सार रहित, रोगों का घर और नरकधाम बना रहता है। —श्रीम०प्र०

१६. छोटी आयु की शादी से हानियाँ—पुत्र पुत्रियों की छोटी आयु में शादी करना बहुत बुरा है। सन्तान के परित्राण के लिए इस कुरीति को अपने में से सदा के लिये निकाल दो। जैसे कच्चे खेत को काट लेने से अन्न नष्ट हो जाता है। कच्चे फल और ईख में मिठास नहीं होती। ठीक उसी प्रकार छोटी आयु में जो सन्तान का विवाह कर देते हैं, उनका

वंश भी बिगड़ जाता है। सन्तान में सुख और उन्नति का सदा अभाव ही बना रहता है। —श्रीम०प्र०

१७. द्वेषी का द्वेष, द्वेष करने से दूर नहीं होता—अपमान कर्त्ता का अपमान करने से उस का सुधार नहीं होता, किन्तु सम्मान देने से सुधार हो जाता है। जैसे आग में आग डालने से वह शान्त नहीं होती, ऐसे ही द्वेषी की द्वेष बुद्धि उस के साथ द्वेष करने से दूर नहीं हो सकती। जैसे अग्नि को शान्त करने का साधन जल है। उसी प्रकार द्वेष को मिटाने का साधन भी शान्ति धारण करना है। —श्रीम०प्र०

१८. स्त्री सत्कार—हे मनुष्यो! जो प्रभात वेला के समान सुप्रकाश, सुरूपवती, सूर्यकिरणों के तुल्य घर के कामों की व्यवस्था चलानेवाली, शूरवीर के समान परिश्रम से न थकनेवाली स्त्रियाँ हों, उनका निरन्तर सत्कार कर, उन्हें सदा सौभाग्य युक्त करते रहो। —ऋ०भा० ६.६४.३

१९. गृहाश्रमी का कर्त्तव्य—गृहस्थों को चाहिये कि ईश्वर के अनुग्रह से प्रशंसनीय बुद्धि युक्त मंगलकारी गृहाश्रमी बनकर इस प्रकार का प्रयत्न करें कि जिससे तीनों अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में अत्यन्त सुखी हों। —य०भा० ८.६

२०. गृस्थाश्रम को कौन धारण कर सकता है—इस बात का निश्चय है कि ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा, विद्या शरीर और आत्मा का बल, आरोग्य, पुरुषार्थ, सज्जनों का संग, आलस्य का त्याग, यम, नियम और उत्तम सहायक के विना किसी भी मनुष्य से गृहस्थाश्रम धारा नहीं जा सकता।

—य०भा० ८.३१

२१. मनुष्य जीवन में कुछ भी दुर्लभ नहीं—मनुष्य शरीर पाकर उत्साह, पुरुषार्थ, सत्पुरुषों का संग और योगाभ्यास का अनुष्ठान करते हुए मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि तथा शरीर, आत्मा और समाज की उन्नति करना कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

२२. राजा को कर क्यों देना चाहिये—जो राजपुरुष हम लोगों से कर लेते हैं, वे हमारी निरन्तर रक्षा करें। नहीं तो न लें। और हम भी उनको कर न देवें। इस कारण प्रजा की रक्षा और दुष्टों के साथ युद्ध करने के लिए ही राजा को कर देना चाहिये। अन्य किसी प्रयोजन के लिए नहीं। —य०भा० ९.१७

२३. स्त्रियों का न्याय स्त्रियाँ करें—राजाओं की स्त्रियों को चाहिये कि सब स्त्रियों के लिए न्याय और अच्छी शिक्षा देवें। और स्त्रियों का न्याय आदि पुरुष न करें, क्योंकि पुरुषों के सामने स्त्री लज्जित और भयमुक्त होकर यथावत् बोल वा पढ़ नहीं सकती। —य०भा० १०.२६

२४. विवाह के पश्चात् पति पत्नी कैसे वर्त्तें—पूर्ण युवा पुरुष जिस ब्रह्मचारिणी कुमारी कन्या के साथ विवाह करें उसके साथ अप्रियाचरण कभी न करें। जो कन्या पूर्ण युवती जिस कुमार ब्रह्मचारी के साथ विवाह करें, उसका अनिष्ट कभी मन से भी न चाहे। इस प्रकार दोनों परस्पर प्रसन्न हुए, अत्यन्त प्रीति के साथ घर के सब कार्यों, को सदा सम्भालते रहें। —य०भा० ११.३९

२५. उत्तम शिक्षा का महत्त्व—उत्तम शिक्षा के विना मनुष्यों के लिए सुख का अन्य कोई भी आश्रय नहीं। इस लिए सब को उचित है कि, आलस्य, प्रमाद और कपट आदि कुकर्मों को छोड़कर, विद्या प्रचार में सदा प्रयत्न किया करें। —य०भा० ११.४१

२६. व्यभिचार परित्याग—विवाह समय स्त्री पुरुषों को चाहिये कि व्यभिचार छोड़ने की प्रतिज्ञा कर, व्यभिचारिणी स्त्री और लम्पट पुरुषों का संग सर्वथा छोड़ और ऋतु गामी बनकर, परस्पर प्रीति के साथ पराक्रमयुक्त सन्तानों को उत्पन्न करें।

स्त्री वा पुरुष के लिए अप्रिय, आयु का नाशक, निन्दा के योग्य व्यभिचार के समान दूसरा कोई भी कार्य नहीं है। इस लिए इस व्यभिचार कर्म को सब प्रकार से छोड़ कर और धर्माचरण करनेवाला बन कर पूर्ण अवस्था के सुख का भोग करें। —य०भा० १२.३०

२७. विद्वानों का सत्कार—मनुष्यों को चाहिये कि सत्पुरुषों की सेवा और सुपात्रों को ही दान दिया करें। जैसे अग्नि में घृत आदि पदार्थों का हवन करके संसार का उपकार करते हैं वैसे ही विद्वानों में उत्तम पदार्थों का दान करके, जगत् में विद्या और अच्छी शिक्षा को बढ़ा के विश्व को सुखी करें। —य०भा० १२.३०

२८. पति-पत्नी परस्पर कैसे वर्तें—पति पत्नी ने विवाह समय जिन व्यभिचार के परित्याग आदि की प्रतिज्ञा की थी,

उसके विपरित कभी न चलें, क्योंकि पुरुष जब विवाह समय स्त्री का हाथ ग्रहण करता है, तभी पुरुष के जितने पदार्थ हैं, वे सब स्त्री के और स्त्री के जितने पदार्थ हैं, वे सब पति के हो जाते हैं। जो पुरुष अपनी विवाहित स्त्री को छोड़, पर-स्त्री के निकट जावे, वा स्त्री पर-पुरुष की इच्छा करें, तो वे दोनों चोर के समान महापापी हो जाते हैं। इसलिए स्त्री की सम्मति के विना पुरुष, और पुरुष की आज्ञा के विना स्त्री कुछ भी काम न करे। यही स्त्री पुरुषों में परस्पर प्रीति बढ़ानेवाला काम है कि व्यभिचार को सदा के लिए त्याग देना। —य०भा० १२.६५

२९. खेतों में विष्ठा आदि मलिन पदार्थ न डाले जाएँ—जो चतुर खेती करनेवाले (कृषक) गौ और बैल आदि की रक्षा करके विचार के साथ खेती करते हैं, वे अत्यन्त सुख को प्राप्त होते हैं। इन्हें खेती में विष्ठा आदि मलिन पदार्थ कभी नहीं डालने चाहियें, किन्तु बीज सुगन्धि आदि से युक्त करके बोने चाहियें। जिससे अन्न भी रोगरहित उत्पन्न होकर मनुष्यादि के बल पराक्रम की वृद्धि को बढ़ावें।

—य०भा० १२.७९

३०. सब से पहले अपनें शरीर को स्वस्थ बनाओ—मनुष्यों को चाहिये कि सबसे पहले औषधियों का सेवन, पथ्य का आचरण और नियमपूर्वक व्यवहार करके अपने शरीर को रोग रहित रक्खें, क्योंकि इसके बिना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने में कोई समर्थ नहीं। —य०भा०

३१. बिना शारीरिक बल के सुख नहीं मिलता—जब तक मनुष्य लोग पथ्य, औषधि और ब्रह्मचर्य के सेवन से शरीर के आरोग्य, बल और बुद्धि को नहीं बढ़ाते, तब तक सुखों के प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। —य०भा० १९.१२

३२. शरीर स्वस्थ कैसे करें—मनुष्यों को चाहिए कि उत्तम औषधियों का सेवन, योगाभ्यास और व्यायाम के सेवन से रोगों को नष्ट कर सुख से बर्तें। —य०भा० १२.८७

३३. उपदेशक और अध्यापक कैसे हों—जो मनुष्य इस संसार में निन्दा, स्तुति, हानि, लाभादि को सहनेवाले, पुरुषार्थी और सब के साथ मित्रता का व्यवहार करते हुए आप्तजन हों, वे ही सब को सेवने और सत्कार करने योग्य हैं। तथा वे ही सब के अध्यापक और उपदेशक होने चाहियें। —य०भा० ६४.१८

३४. कौन इष्ट फल को प्राप्त करता है—**यो मनसा, वाचा, कर्मणा नम्रो जायते, यो रश्मिवत् प्रकाशात्मव्यवहारो भवति। यो जगदीश्वरेण मित्रत्वमाचरति, सर्वैः सह भातृभावं रक्षति, यश्च विद्वद्भ्यो हितं करोति स एव सर्वमिष्टफलं लभते।** —ऋ०भा० ४.२५.२

भाषार्थ—जो मनुष्य मन, वचन और कर्म से नम्र होता है, जिसका व्यवहार सूर्य की रश्मियों के समान प्रकाशमान है, जो सदा प्रभु के साथ मित्रता तथा प्राणिमात्र के साथ भातृभाव रखता है और जो विद्वानों का सदा हित करता है वह ही सब प्रकार के इष्ट फल को प्राप्त होता है।

३५. मनुष्यों को दूसरों के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिये—यही धर्मानुकूल व्यवहार है कि जैसी अपनी इच्छा हो, वैसी ही दूसरों की भी समझें। जैसे सब प्राणी अपने दुःख की इच्छा नहीं करते, और सुख की अभिलाषा करते हैं, वैसे ही दूसरों के लिए भी सब को वर्तना चाहिये।

—ऋ०भा० ५.२०.१

३६. मनुष्य कैसे बढ़ते हैं—**यथोदकेन नद्यः समुद्राश्च वर्धन्ते, तथैव धर्मयुक्तेन पुरुषार्थेन मनुष्या वर्धन्ते।**

—ऋ० ५.४१.१४

भाषार्थ—जैसे जल से नदियाँ और समुद्र बढ़ते हैं, वैसे धर्मयुक्त पुरुषार्थ से मनुष्य सदा बढ़ते हैं।

३७. कौन विद्या का अधिकारी है—हे अध्यापक और विद्वानो! आप लोग जो जितेन्द्रिय, आप्त स्वभाव, सर्दी गर्मी, सुख, दुःख, हर्ष शोक, निन्दा, स्तुति आदि द्वन्द्वों के सहन करनेवाले, निरभिमानी, निर्मोही, सत्याचरण परोपकार-प्रिय और ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले विद्यार्थी हों, उनको ही पुरुषार्थ से विद्वान् बनाओ। —ऋ०भा० ५.४३.७

३८. कौन सुखी होते हैं—जो सूर्य के सदृश विद्या (प्रकाश), माता के समान कृपा, नदी के समान उपकार, और खम्भे के सदृश निश्चल धारणावाले होते हैं, वे ही श्रीमान् और सदा सुखी रहते हैं। —ऋ० ५.४५.२

३९. देश और जाति की भूषण देवियाँ—जो स्त्रियाँ प्रभात वेला के समान अपने पति आदियों को सूर्योदय से पहिले जगा देती हैं, घर और बाहर के स्थानों को सदा साफ सुथरा रखती हैं, घर में आनेवाले पति आदियों के सम्मुख

हाथ जोड़कर खड़ी रहती है और हमेशा सबको विज्ञान (उत्तम विचारों) की शिक्षा देती हैं, वे देवियाँ ही देश और कुल की भूषण रूप होती हैं। —ऋ०भा० ५.८०.२

४०. मेघोन्नति अर्थात् (वर्षा) कैसे होती हैं—मनुष्यैर्येन मेघेन सर्वस्य पालनं जायते तस्योन्नतिः वृक्षप्रवापेन, वनरक्षणेन, होमेन च संसाधनीया, यतः सर्वस्य पालनं सुखेन जायेत॥
—ऋ०भा० ५.८३.४

भाषार्थ—जिस मेघ से सबका पालन-पोषण होता है सब मनुष्यों को उसकी उन्नति, वृक्ष लगाने, वनों की रक्षा करने और यज्ञ करने से हमेशा करनी चाहिये। जिससे सब का पालन पोषण सुख पूर्वक हो सके।

४१. कौन राजा इस लोक और परलोक में सुखी होता है—जो राजा स्वयं सत्यवादी, तथा अन्य सत्यवादियों को सदा प्रसन्न रखता है, विद्वज्जनों से विद्या और विनय को प्राप्त कर सदा अपनी प्रजा के सुख की कामना करता है, यज्ञ के द्वारा तथा उत्तम सुगन्धित फल-पुष्पयुक्त वृक्षों और लता आदि के द्वारा सबको सुख देता हुआ, जल, ओषधि, वृक्ष, गाय, घोड़ा, मनुष्य आदि की सुख वृद्धि के लिए सदा परमेश्वर तथा विद्वानों से प्रार्थना करता है, वही राजा इस लोक तथा परलोक में सुख को प्राप्त करता है। —ऋ०भा० ६.३९.५

४२. ब्रह्मचर्य का फल—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर फिर उसका लोप नहीं करते वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं। —स०प्र० ३ समु०

४३. राज्य कब बढ़ता और कब नष्ट होता है—जब तक मनुष्य धार्मिक, सदाचारी रहते हैं, तभी तक राज्य बढ़ता है। और जब दुष्टाचारी हो जाते हैं, तब नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। —स०प्र० ६ समु०

४४. व्यभिचार से हानि—जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार व्यभिचार और अतिशय विषयासक्ति है, वैसा और कोई नहीं। —स०प्र० ६ समु०

४५. कौन-सा धन अपना समझना चाहिये—हे मनुष्यो! जो धर्मानुसार पुरुषार्थ से धन प्राप्त होता है, उसे ही अपना धन समझना चाहिये। न कि अन्याय से उपार्जित धन को। इसलिए जिस प्रकार से धर्म पूर्वक पुरुषार्थ से धन प्राप्त हो,

वैसा ही सब को प्रयत्न करना चाहिये। —ऋ०भा० ७.४.७

४६. विद्वानों का कर्त्तव्य—विद्वानों का यही कर्त्तव्य है, कि सत्याऽसत्य का निर्णय करके, सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके, परम आनन्दित होवें। —स०प्र० १० समु०

४७. अन्यायी तथा आवश्यकता से अधिक धनवान् देश नष्ट भ्रष्ट हो जाता है—इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन तक नहीं चलता। और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब (देश में) बहुत-सा असंख्य-धन प्रयोजन से अधकि हो जाता है, तब आलस्य, प्रमाद, पुरुषार्थ रहितता, ईर्ष्या, द्वेष और विषयासक्ति बढ़ जाती हैं। इससे देश में विद्या और सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं।

—स०प्र० ११ समु०

४८. सुन्दर वेद-पथ पर चलो—भला अब लों जो हुआ सो हुआ, परन्तु अब तो अपनी मिथ्या प्रपंच आदि बुराइयों को छोड़ो, और सुन्दर ईश्वरोक्त वेद विहित सुपथ में आकर अपने मनुष्य रूपी जन्म को सफल करो, और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुष्टय फलों को प्राप्त होकर आनन्द भोगो। —स०प्र० ११ समु०

४९. विद्वान् का कर्त्तव्य—परोपकार करना धर्म, और पर हानि करना अधर्म कहलाता है। इस लिए विद्वान् को यथायोग्य व्यवहार करके अज्ञानियों को दुःख सागर से तारने के लिए नौका रूप बन जाना चाहिये। सर्वथा मूर्खों के सदृश कर्म न करने चाहियें, किन्तु जिससे उनकी (प्राणिमात्र की) और अपनी दिन प्रतिदिन उन्नति हो, वैसे ही कर्म करने चाहियें।

—स०प्र० ११ समु०

५०. स्वदेशोन्नति—हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे भी होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। —स०प्र० ११ समु०

५१. विद्यार्थियों के कर्त्तव्य—मिथ्या को छोड़ कर सत्य को ग्रहण करें। अभिमान न करें, आचार्य की आज्ञा पालन करें, आचार्य की सदा स्तुति करें, निन्दा कभी न करें। नीचे आसन पर बैठें, ऊँचे कभी न बैठें, शान्त रहें, चपलता न करें, आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहें, क्रोध कभी न करें,

जब कभी वे पूछें, तो हाथ जोड़कर नम्र होकर उत्तर दें, घमण्ड से न बोलें, जब वे शिक्षा दें, चित्त देकर सुनें, हंसी ठठे में न उड़ावें, शरीर और वस्त्र शुद्ध रखें, मैले कभी न रखें, उत्तम पुरुषों का सदा मान करें, अपमान कभी न करें। उपकार मान कृतज्ञ होवें, कृतघ्न कभी न होवें। सदा पुरुषार्थी रहें, आलसी कभी न हों, जिस जिस कर्म से विद्या की प्राप्ति हो, उस उस को अवश्य करते जाएँ, जो जो बुरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि विद्या विरोधी कर्म हों, उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें। बुरे कर्मों पर क्रोध, विद्या ग्रहण में लोभ, सज्जनों से मोह, बुरे कामों से भय, अच्छे काम न होने से शोक, और विद्यादि शुभ गुणों से आत्मा और वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से जितेन्द्रिय हों, अपने शरीर का बल सदा बढ़ाते जाएँ। —व्यवहारभानु

५२. आचार्य का कर्त्तव्य—जिस प्रकार से विद्यार्थी, विद्वान्, सुशील, निरभिमानी, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी, पुरुषार्थी, परोपकारी, वीर, धीर, गम्भीर, पवित्राचरण, शान्त स्वभाव, दमनशील जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन और माता, पिता, आचार्य, अतिथि, बन्धु, मित्र, राजा, प्रजा आदि के सदा प्रियकारी हों, ऐसी शिक्षा सदा किया करें। —व्यवहारभानु

५३. सच्चा धर्म कौन-सा—सदाचार और धर्म के जिन सत्यभाषण, भूतदया, परोपकार, दान, पुण्य आदि अंगों में सब मत एक मत हैं, वही मत सच्चा तथा ईश्वर की देन है। शेष सब अपनी अपनी खींचातानी है कि ईसा, मुहमम्द और श्रीकृष्ण के विना मुक्ति ही नहीं मिल सकती। —श्रीम०प्र०

५४. विरोध की आंच से सत्य की कान्ति मंद नहीं पड़ती—सोने को जितना तपाया जाता है, उतना वह कुन्दन बन जाता है। उसी प्रकार विरोध की आंच से सत्य की कान्ति मंद नहीं पड़ती, अपि तु चौगुनी चमकने लगती है। —श्रीम०प्र०

५५. दान का अधिकार किसको है—जैसे देव यज्ञ के अनन्तर देवों का दिया भोग भोगने में पुण्य है, ऐसे ही मनुष्यों का उपकार करके, उनके दिये दान के भोगने का अधिकार है। यदि किसी का अन्नादि ग्रहण करने लगो, तो पहिले मन में सोचो कि इस लेने का कोई मुझे अधिकार भी है, या नहीं। और इन दान दाताओं के लिये मैं क्या कर रहा हूँ। व्यर्थ में पर पुरुषार्थ जीवी बनना महापाप है। —श्रीम०प्र०

५६. वेश्यागमन से हानि—इस दुर्व्यसन के कारण धर्म, कर्म सब नष्ट हो जाता है। मान मर्यादा को बट्टा लगता है। इस पाप सोपान पर प्रथम पदार्पण करते ही, पुनः पद पद पर पुरुष का अधःपतन आप ही आप होता चला जाता है। —श्रीम०प्र०

५७. विधवा विवाह—विधवा विवाह का जो लोग विरोध करते हैं, उनकी पुष्टि करके विधवा विवाह के खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं। मैं तो यह अवश्य कहूँगा कि ईश्वर के समीप स्त्री पुरुष दोनों बराबर हैं। उस में पक्षपात का लेश भी नहीं है, अतः जब पुरुषों को पुनर्विवाह की आज्ञा दी जाती है, तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे। —उप०मं०

५८. न्यायासन पर बैठ कर राजा प्रभु से क्या प्रार्थना करे—राजा न्यायासन पर बैठ कर, सर्वव्यापक, न्यायकारी, अन्तर्यामी से नेत्रोन्मीलन कर, हृदय से प्रार्थना करे—हे परमेश्वर! आपकी ऐसी कृपा दृष्टि हो कि जिस से मैं कभी काम, क्रोध, लोभ, मोह भय, शोक आदि के वशीभूत होकर किसी से अन्याय न करूँ। —ऋषि का पत्रव्यवहार

५९. मद्यपानादि कर्म बल, बुद्धि, पराक्रम को नष्ट कर देते हैं——जो मद्य पानादि कर्म हैं, वे आयु, बुद्धि, बल, पराक्रम, आरोग्यता, कीर्ति, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में अवश्य विघ्नकारी हैं। —ऋषि का पत्रव्यवहार

६०. विघ्नों का निवारण विघ्न आने से पहिले ही कर लेना चाहिये—बुद्धिमान् विघ्न आने से पहिले ही विघ्नों का निवारण कर लेते हैं, जब तक कि विघ्न उपस्थित न हों। इसके विपरीत निर्बुद्धि लोग विघ्न आने से पहिले तो कुछ ध्यान नहीं देते, किन्तु विघ्नों के आ जाने पर घबरा जाते हैं। —ऋषि का पत्रव्यवहार

६१. आपत्ति में धैर्य तथा बुद्धि से उसका निवारण करना चाहिये—आपत्ति में धैर्य से बुद्धिमत्ता के साथ आपत्ति का निवारण करना ही आप्त पुरुषों का काम है। —ऋषि का पत्रव्यवहार

६२. महाशय कौन होते हैं—वही मनुष्य "महाशय" कहलाते हैं जो पाप कर्मों और दूसरों को पीड़ा देने के कर्मों को छोड़कर सब प्राणियों के साथ अपने आत्मा के समान

व्यवहार करते हैं और उनके सुख के लिये शरीर, वाणी और आत्मा तक को लगा देते हैं। —ऋ०भा०

६३. व्यायाम करने का फल—व्यायाम करने से जो कुछ खाया पिया, वह सब परिपक्व हो जाता है। सब धातुओं की वृद्धि होती है। हड्डियाँ पुष्ट हो जाती है। जठराग्नि शुद्ध तथा प्रदीप्त रहती है। सब अंग सुन्दर बन जाते हैं। किन्तु व्यायाम अपनी सामर्थ्य से अधिक नहीं करना चाहिये। अधिक व्यायाम करने से सब धातु रूक्ष हो जाते हैं। और बुद्धि भी रुक्ष हो जाती है। तथा क्रोधादि की वृद्धि होती है।

—स०प्र०प्र०सं० ३ समु०

६४. विवाह में अधिक व्यय नहीं करना चाहिये—विवाह में बहुत धन का नाश करना अनुचित है, क्योंकि वह धन व्यर्थ ही जाता है। इसमें बहुत राज्य बर्बाद हो गए हैं। और वैश्य लोगों का भी विवाह में दिवाला निकल जाता है, अतः विवाह में व्यर्थ धन का नाश कभी नहीं करना चाहिये।

—स०प्र०प्र०सं० ४ समु०

६५. वीर्य रक्षा से कितना सुख होता है—जितना युक्तिपूर्वक वीर्यरक्षा करने में सुख और आनन्द होता है, उतना सुख लाख वार विषय भोग करने में भी नहीं होता।

—स०प्र०प्र०सं० ४ समु०

६६. पर्दा-प्रथा हानिकर है—मुसलमान लोगों का जब राज्य भया, तब जिस किसी की कन्या वा स्त्री पकड़ लेते थे, और भ्रष्ट कर देते थे। उसी दिन से आर्यावर्त वासी लोग स्त्रियों को घर में रखने लगे। और स्त्रियाँ भी मुख के ऊपर वस्त्र रखने लगी। सो अब तो इस बात को छोड़ देना चाहिये। क्योंकि इस व्यवहार में सिवाय दुःख के और सुख कुछ भी नहीं। जैसा दाक्षिणात्य लोगों की स्त्रियाँ वस्त्र धारण करती हैं। वैसा ही प्राचीन काल में (वस्त्र धारण करने का) रिवाज था। —स०प्र०प्र०सं० ४ समु०

६७. नशीले पदार्थों के सेवन से हानियाँ—मद्य, भांग गांजा, अफीम और जितने भी नशे हैं, वे सब अभक्ष्य हैं। क्योंकि जितने भी नशे हैं, वे सब बल, बुद्धि आदि का नाश करनेवाले हैं। इस से इनका ग्रहण कभी भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि जितने भी नशे हैं, वे सब गर्मी किये विना नहीं रहते। और उनकी गर्मी से शरीरस्थ सब धातुएँ और प्राण संतप्त

तथा विषम हो जाते हैं। और उनके कारण बुद्धि भी संतप्त तथा विषम हो जाती हैं। इसलिए नशों का करना सब के लिये हानिकर है। —स०प०प्र०सं० १० समु०

६८. शरीर द्वारा ही सब कार्य पूर्ण होते हैं—जब शरीर दृढ़, रोग रहित, बल, बुद्धि और पराक्रम तथा वीर्य की रक्षा और विषय भोगों में न फसना आदि गुणों से युक्त होता है, तब ही सब कार्य पूर्ण हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

—स०प्र०प्र०स० ११ समु०

६९. नमक पर कर नहीं लगना चाहिये, और शराब आदि नशीले पदार्थों पर चौगुना कर लगाना चाहिये—नोन और पौन रोटी (हरे घास, जलाने की लकड़ी) पर जो कर लिया जाता है, वह मुझको अच्छा नहीं मालूम होता, क्योंकि नोन के विना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं हो सकता, किन्तु सब को नोन का प्रयोग आवश्यक है। और जो मजदूरी मेहनत से जैसे-तैसे अपना निर्वाह करते हैं, उनके ऊपर भी नोन का यह दण्ड बराबर रहता है, इससे दरिद्रों को क्लेश पहुँचता है। इससे तो ऐसा हो कि मद्य, अफीम, गांजा, भांग, इसके ऊपर चौगुना कर स्थापन किया जाए। क्योंकि नशादिकों का छूट जाना ही अच्छा है, और जो मद्य आदि बिल्कुल ही छूट जाए तो मनुष्यों का बड़ा ही अहो भाग्य है, क्योंकि नशा से किसी का कुछ भी उपकार नहीं होता। —स०प्र०प्र०स० ११ समु०

७०. हमारी अधोगति का कारण—यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात, प्रहर, मुहूर्त्त, घड़ी, पल, क्षण, आँख, नाक, कान आदि शरीर, औषधि, वनस्पति, खाना, पीना आदि व्यवहार ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं फिर हम आर्यों का हाल क्यों बदल गया। हे मनुष्यो! आप लोग अत्यन्त विचार करके देखो, कि जिसका फल दुःख वह धर्म और जिसका फल सुख, वह अधर्म कभी हो सकता है अतः अपनी अधोगति का एकमात्र कारण वेद विरुद्ध आचरण करना ही है। —ऋषि का पत्रव्यवहार

७१. हम अपने तथा अपने देश के नाम को भी भूल गए—हमारे देश का नाम "आर्यस्थान" अथवा "आर्यखण्ड" होना चाहिये। सो उसे छोड़, न जाने "हिन्दुस्तान" यह नाम कहाँ से निकल आया। भाई श्रोतागण 'हिन्दु' शब्द का अर्थ तो काला काफिर, चोर इत्यादि है। अतः अपने को "हिन्दुस्थान"

कहने से काले, काफिर चोर लोगों की जगह, अथवा देश, ऐसा अर्थ होता है। तो भाई! इस प्रकार का बुरा नाम क्यों ग्रहण करते हो। और "आर्य" अर्थात् श्रेष्ठ, अभिज्ञात और आर्वत अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों का देश, ऐसा (अर्थ) होता है। सो भाई! ऐसे श्रेष्ठ नाम को तुम क्यों नहीं स्वीकार करते। क्या तुम अपना मूल का नाम भी भूल गए। हम लोगों की यह दुर्दशा देखकर किसके हृदय में क्लेश न होगा। अस्तु! सज्जन जन! अब 'हिन्दु' इस नाम का त्याग करो और "आर्य" तथा "आर्यावर्त" इन नामों का अभिमान करो। गुण भ्रष्ट तो हम लोग हुए, परन्तु नाम भ्रष्ट तो हमें न होना चाहिये। यही आप लोगों से मेरी प्रार्थना है। —उप०मं०

७२. भारतीय रोग का औषधि—हमारे भारत खण्ड देश से वेदों का बहुत सा धर्म लुप्त हो गया है। और रहा सहा हम लोगों के प्रमाद से नष्ट होता जा रहा है। और उसकी जगह पाखण्ड, अनाचार और दम्भ बढ़ता जा रहा है। सनातन आर्ष ग्रन्थ वेदादि को छोड़कर लोग पुराण आदि अनार्ष ग्रन्थों में लिपट रहे हैं। और उनकी कल्पित तथा असभ्य गाथाओं को अपना धर्म समझ रहे हैं। यदि मुझसे कोई पूछे कि इस पागलपन का कोई उपाय भी है, वा नहीं। तो मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो रोग असाध्य नहीं है। वेद और दर्शनों जैसी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न भिन्न भाषाओं में अनुवाद करके, सब लोगों को जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिये। और पढ़े, लिखे विद्वान् लोगों को सच्चे धर्म के उपदेश करने की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये, और गांव गांव में आर्यसमाज स्थापन करके तथा मूर्ति पूजा आदि अनाचरणों को दूर करके, एवं ब्रह्मचर्य से जप का सामर्थ्य बढ़ाकर सब वर्णों और आश्रमों के लोगों को चाहिये कि शारीरिक और आत्मिक बल को बढ़ावें। तब (ऐसा यत्न करने पर) सुगमता से शीघ्र लोगों की आंखें खुल जावेंगी। और यह दुर्दशा दूर होकर, अवश्य सुदशा प्राप्त होगी। —उप०मं०

७३. आर्यों की अधोगति का कारण—महाभारत के युद्ध में जब अच्छे अच्छे पूर्ण विद्वान्, वेद और शास्त्रादि के जाननेवाले चल बसे, विद्या का प्रचार तथा सत्योपदेश की व्यवस्था छूट कर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे, लोगों ने अपना छप्पर अपने अपने हाथ से छाने की

फिकर की, अर्थात् देश तथा जाति के हित को छोड़कर स्वार्थी बन गए, और थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम उत्तम विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उन (विद्याओं) का विचारा हुआ लाभ भी नष्ट हो गया। और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबो दिया। बड़े शोक की बात तो यह है कि आँखों से देखकर भी कूप में गिरना अच्छा समझकर, अपनी अज्ञानता और मूर्खता पर दुःखी और लज्जित होने के स्थान पर अब भी बराबर हठ ही करते चले आ रहे हैं।

—भ्रान्तिनिवारण की भूमिका

७४. वीर्य नाश का फल—वीर्य-नाश से बुद्धि, बल, पराक्रम तेज और धैर्य का नाश हो जाता है। आलस्य, प्रमाद, रोग, क्रोध, और दुर्बुद्धि आदि दोष उसमें आ जाते हैं।

—स०प्र०प्र०सं० ३ समु०

७५. विद्या किसको आती है—जो जितेन्द्रिय, धैर्यवान्, बुद्धिमान्, शीलवान् और विचारवान् पुरुष होता है, उसे ही विद्या प्राप्त होती है। —स०प्र०प्र०सं० ३ समु०

७६. सज्जन पुरुषों का आचार—सज्जन पुरुषों को राग, द्वेष, अन्याय, मिथ्या-भाषणादि दोषों को छोड़कर निर्वैर, परस्पर प्रीति परोपकार और सज्जनता आदि सद्गुणों को धारण करना चाहिये। यही उत्तम आचार है। —स०प्र०प्र०सं० ३ समु०

७७. यह मनुष्य जीवन परस्पर वैर विरोध फैलाने के लिये नहीं—मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय करने कराने के लिये है, न कि परस्पर वाद विवाद और वैर विरोध फैलाने के लिए। —स०प्र० अनुभूमिका

७८. साधु किसे कहते हैं—जो सदा धर्म युक्त काम करे। सदा परोपकार में प्रवृत्त हो कोई दुर्गुण जिस में न हो। विद्वान् होकर सत्योपदेश से सब का उपकार करे, उसको साधु कहते हैं। —स०प्र० ११ समु०

७९. वेद मार्ग—वेद मार्ग ही सबसे उत्तम मार्ग है, पकड़ा जाय तो पकड़ो, अन्यथा सदा गोते खाते रहोगे।

—स०प्र० ११ समु०

८०. रोगी कौन होते हैं—जो लोग भूख में नहीं खाते, और विना भूख के भोजन करते हैं, वे दोनों रोगसागर में गोते खाकर दुःख पाते हैं। —स०प्र० ११ समु०

८१. ग्रहों का फल—(प्रश्न) ग्रहों का फल होता है

वा नहीं (उ०) जैसे पोप लीला का है वैसा नहीं, किन्तु जैसा सूर्य चन्द्रमा की किरणों द्वारा उष्णता, शीतता अथवा (ये ग्रह) ऋतुवत्काल चन्द्र के सम्बन्ध मात्र में अपनी प्रकृति के अनुकूल, प्रतिकूल सुख, दुःख के निमित्त होते हैं।

—स०प्र० ११ समु०

८२. **ज्योतिष विद्या कौन-सी सत्य है**—जो गणित विद्या है वह सच्ची और फलित विद्या 'स्वाभाविक' सम्बन्ध जन्य को छोड़कर के झूठी है?

८३. **दान के अधिकारी**—सुपात्रों और परोपकारियों को सोना, चांदी, हीरा, मोती, माणिक अन्न, जल, स्थल, वस्त्रादि दान अवश्य करना चाहिये। किन्तु कुपात्रों को कदापि नहीं।

—स०प्र० ११ समु०

८४. **दाता कितने प्रकार के होते हैं**—दाता तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम, मध्यम, निकृष्ट। उत्तम दाता उसको कहते हैं जो देश काल और पात्र को जानकर सत्यविद्या धर्म की उन्नति रूप परोपकारार्थ देवे। मध्यम वह है जो कीर्ति वा स्वार्थ के लिए दान करे। नीच वह है जो अपना व पराया कुछ उपकार न कर सके, किन्तु वेश्यागमन आदि वा भाण्ड, भाट आदि को देवे। देते समय तिरस्कार अपमान आदि कुचेष्टा भी करे, पात्र कुपात्र का कुछ भी भेद न जाने, किन्तु "सब अन्न बारह पसेरी" बेचनेवालों के समान विवाद, लड़ाई और दूसरे धर्मात्मा को दुःख देकर आप सुखी होने के लिए दिया करे। वह अधम दाता है। अर्थात् जो परीक्षा पूर्वक विद्वान् धर्मात्माओं का सत्कार करे वह उत्तम, और जो कुछ परीक्षा करे वा न करे, परन्तु जिसमें अपनी प्रशंसा हो उसको मध्यम, और जो अन्धाधुन्ध परीक्षा रहित निष्फल दान दिया करे वह नीच दाता कहाता है।

—स०प्र० ११ समु०

८५. **परमेश्वर के सामने क्या उत्तर दोगे**—जब तुम छल से मनुष्यों को ठग कर उनकी हानि करते हो, तो परमेश्वर के सामने क्या उत्तर दोगे, और घोर नरक में पड़ोगे, थोड़े से जीवन के लिये इतना बड़ा अपराध करना क्यों नहीं छोड़ते।

—स०प्र० ११ समु०

८६. **देशोन्नति का उपाय**—जब वेदादि सत्यशास्त्रों का पठन पाठन, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का यथावत् अनुष्ठान और सत्योपदेश होते हैं, तभी देशोन्नति होती है। —स०प्र० ११ समु०

ओ३म्

महर्षि-जीवन-परिचय

महर्षि का जन्म सं० १८८१ में सौराष्ट्र के टंकारा नाम के छोटे से नगर में औदीच्य कुल में हुआ। महर्षि का जन्म नाम मूलशंकर तथा उनके पूज्य पिता का नाम कर्सनजी तिवारी था। मूलशंकर बाल्यकाल से ही सुशील, सदाचारी, धर्मप्रिय, श्रद्धावान् तथा ईश्वर के परमभक्त थे। मूलशंकर के पिता भी स्वधर्म-निष्ठ, श्रद्धालु तथा स्वाध्यायशील व्यक्ति थे। इसीलिए उन्होंने अपने प्रिय पुत्र मूलशंकर को पांच वर्ष की आयु से ही यजुर्वेद तथा अन्य धर्म शास्त्रों के मन्त्र श्लोकादि कण्ठस्थ कराना प्रारम्भ कर दिया था। मूलशंकर जब चौदह वर्ष के हुए तो शिवरात्रि के दिन उनके पूज्य पिता ने उन्हें शिवरात्रि का व्रत रखने को कहा। मूलशंकर किशोरावस्था में ही अपने पूज्य पिता के मुखारविन्द से शिव की महिमा को श्रवण कर शिवरात्रि-व्रत रखने को उद्यत हो गए। शिवरात्रि के दिवस रात्रि को शिव-भक्त शिव-मन्दिर में जागरण किया करते हैं। तदनुसार मूलशंकर ने भी सं० १८९४ की शिवरात्रि को व्रत रखा और अपने पूज्य पिता के साथ शिव-मन्दिर में जागरण किया। थोड़ी ही देर में मूलशंकर के पिता तथा पुजारी आदि तो सो गये, किन्तु सच्चे आस्तिक, जिज्ञासु परम श्रद्धावान् मूलशंकर जागते रहे। ऐसे श्रद्धावान् भक्तों को भगवान् कुमार्ग से भी सुमार्ग दर्शा देते हैं। अन्धकार से भी प्रकाश दिखा देते हैं। कुछ ही देर में मूलशंकर ने देखा कि शिव की मूर्ति पर चपल चूहे आकर उन पर चढ़े नैवेद्य को खा तथा उस पर उछल-कूद मंचाकर टट्टी पेशाब तक कर रहे हैं। मूलशंकर यह दृश्य देखते ही एक दम आश्चर्यचकित हो गये। पूज्य पिताजी को उठा कर कहने लगे पिताजी यह शिव कैसे, जिनका चूहे भी अपमान कर रहे हैं। पिताजी ने उत्तर दिया, पुत्र! सच्चे शिव तो कैलाश पर्वत पर रहते हैं, यह तो शिव की मूर्ति हैं। इतना सुनते ही मूलशंकर ने कहा—पूज्य पिताजी! फिर तो मैं पत्थर की प्रतिमा-पूजन के प्रयास को छोड़कर

सच्चे शिव को पाने का ही पावन प्रयत्न करूँगा। यह कहकर मूलशंकर उसी समय शिव-मन्दिर से उठकर अपने गृह पर आ गए और अपनी माता को जगा कर कहने लगे। माताजी! मुझे भूख लगी है, कुछ खाने को दीजिये। माता ने कहा बेटा! मैं तो पहले ही कहती थी तुम से व्रत नहीं रखा जायेगा।

उस कल्याणमय शंकर के प्रकाश का मूल (बीज) तो मूलशंकर के हृदय में पहिले था ही, अब वह बीज शिवरात्रि की इस घटना से अंकुरित हो उठा। जब भी कोई सन्त महात्मा या विद्वान् मूलशंकर को मिला, तब वह उनसे यही पूछता सच्चे शिव के दर्शन कैसे होंगे। मूलशंकर शंकर के दिव्य दर्शनों को पाने में व्याकुल हो ही रहे थे कि शिव-रात्रि की घटना के दो वर्ष पश्चात् उनकी छोटी भगिनी का देहान्त हो गया। उन्होंने इससे पहिले मृत्यु के इस बीभत्स दृश्य को कभी नहीं देखा था। इसलिए उनकी भगिनी की मृत्यु पर जहाँ उनके माता, पिता बन्धु बान्धव रोने लगे वहाँ मूलशंकर स्तब्ध होकर अपनी प्रिय भगिनी के शव को देख देख कर मन में सोचने लगे—क्या सभी प्राणी संसार से इस प्रकार चल बसेंगे? क्या मुझे भी एक दिन इस संसार को छोड़ना होगा। मूलशंकर के हृदय में प्रभु-प्राप्ति की पावन ज्वाला जो पहिले जल ही रही थी, भगिनी के इस मृत्यु के दृश्य ने उसमें घृत की आहुति का काम किया और मूलशंकर सच्चे शिव के पाने और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने के उपाय सोचने लगे। प्रभु-प्राप्ति के वियोग में कभी कभी तो उसे रात भर भी निद्रा न आती। ऐसे दिवाने भक्तों के लिए ही उर्दू के एक कवि ने ठीक कहा है—

जिस का दिल हो दिलवर में उसे कब आती है नींद।
करवट लेते ही लेते साफ़ उड़ जाती है नींद।।

भगिनी की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् ही अर्थात् जब मूलशंकर १६ वर्ष के हुए उनसे अगाध प्रेम करनेवाले पूज्य चाचा की मृत्यु हो गई। अपने चाचा की मृत्यु ने उनकी वैराग्य अग्नि को और अधिक प्रदीप्त कर दिया। और उन्होंने सच्चे शिव के पाने तथा जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होने का

पूर्ण निश्चय कर लिया। मूलशंकर के पिता अपने प्रिय पुत्र की इस वैराग्य दशा को देखकर परम चिन्तित होने लगे और उन्होंने मूलशंकर को गार्हस्थ्य रूपी मोहमयी शृंखला में बांधने का पूर्ण निश्चय कर लिया। उनके विवाह की खूब धूमधाम से तैयारियाँ होने लगीं। किन्तु जिसने भला आगे जाकर विश्व को बन्धन से छुड़ाना था, वह कामिनीरूपी हिरण्यमयी शृंखलाओं में कब बन्धने लगा। मूलशंकर अपने विवाह की तैयारियाँ देखकर और भी व्याकुल हो उठे, अतः मन में इस कामिनी और कंचन के बन्धन को दूर कर हिमालय में जा सच्चे शिव के पाने तथा मृत्यु के बन्धन से पार होने के लिये घर से निकल जाने का पूर्ण निश्चय कर लिया। एक दिन अवसर पाकर २२ वर्ष की आयु में मूलशंकर रात्रि को ही घर से निकल पड़े। और सिद्धपुर के मेले में जा पहुँचे। परम विरक्त मूलशंकर ने अपने बहुमूल्य वस्त्रों तथा अंगूठी आदि आभूषणों का भी परित्याग कर और पीत-वस्त्र पहिन अपना नाम ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य रख लिया। मूलशंकर के पिता उन्हें ढूंढते हुए उसी मेले में सिपाहियों सहित आ पहुँचे और ब्रह्मचारी वेशधारी मूलशंकर को प्राप्त कर उन पर बहुत क्रुद्ध हुए। मूलशंकर कहीं फिर न भाग जाये इस लिए मूलशंकर के पिता ने उनके चारों ओर रात्रि में सिपाहियों का पहरा लगा दिया, किन्तु जो एक बार कांचन तथा कामिनी के बन्धन को तोड़ चुका था। वह भला दुबारा उस बन्धन में कब फंसनेवाला था। अतः मूलशंकर रात्रि को ही अपने पिता तथा सिपाहियों के सो जाने पर वहाँ से निकल भागा, और फिर पिता के लाख प्रयत्न करने पर भी उनके हाथ न आया–

जो हुआ बन्धन से मुक्त, फिर बन्धन में वह क्यों आए।
ज्यों पिंजरें से निकल पक्षी, पिंजरे को न मुँह दिखलाए।।

मूलशंकर ने सुन रक्खा था कि परमात्म-प्राप्ति का एक मात्र साधन योगी, महात्मा जनों के पास जाकर उनका सत्संग जप, तप, योगाभ्यास तथा ईश्वर चिन्तन करना है। अतः अब मूलशंकर सच्चे शिव की तलाश तथा जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने के लिये वन, पर्वतों में घूमने लगे। जहाँ

वह सुनते कि अमुक स्थान पर कोई सिद्ध योगी महात्मा रहते हैं, वे हजारों कष्टों को झेलकर भी वहाँ जा पहुँचते, तथा उनके चरणों में बैठकर उनका उपदेश सुनते, उनसे प्राणायाम आदि योग की क्रियाओं को सीखते, वे अपने प्रियतम की तलाश में कभी हिमाच्छन्न हिमालय की चोटियों में भटके, कभी अलखनन्दा तट पर जा कर अलख जगाई, कभी पाण्डवों के स्वर्गारोहण पथ पर पधारे। कभी नर्मदा के तट पर भक्त नन्दन भगवान् के दर्शनार्थ घूमे। कभी तुंगनाथ की उत्तुंग शिखाओं पर पधार, कठोर तप को तपा, कभी केदारनाथ पर्वत पर प्राणायाम प्रभृति योगांगों का अनुष्ठान किया। एक बार सच्चे शिव की तलाश में घूमते हुए मूलशंकर 'ओखीमठ' पर जा पहुँचे। यह बहुत बड़ा मठ था, उसके महन्त भी बहुत प्रसिद्धि-प्राप्त पुरुष थे। 'ओखीमठ' के महन्त मूलशंकर की प्रतिभा, तेज, तप तथा कर्त्तव्य परायणता को देखकर उन पर मुग्ध हो गए और प्रसन्न होकर मूलशंकर को कहने लगे ब्रह्मचारी जी! मैं तुम्हारी अलौकिक प्रतिभा को देखकर बहुत प्रसन्न हूँ। इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम मेरे शिष्य बन जाओ, यह 'ओखीमठ' की लाखों रुपयों की सम्पत्ति आज से ही मैं तुम्हारे समर्पण करता हूँ महन्त की इस प्रलोभन पूर्ण प्रार्थना को सुनकर मूलशंकर ने उत्तर दिया—महन्तजी! यदि मुझे सम्पत्ति की लालसा होती, तो आपके मठ से भी अधिक सम्पत्ति शाली अपने पितृगृह का परित्याग न करता। मैं देखता हूँ कि जिस वस्तु की तलाश में मैंने अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धव, परिवार, परिजन और समृद्धि सम्पन्न गृह का परित्याग किया है, वह वस्तु आपके पास मुझे नहीं मिल सकती, अतः आपके इस आग्रह को मैं कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता—

निर्वाण पथ का यात्री निज मार्ग से हटता नहीं।
माया का बन्धन तोड़ कर माया में फिर फंसता नहीं॥

सच्चे शिव की तलाश में मूलशंकर ने वन, पर्वतों को एक कर दिया। हजारों संकट सहे। उन्होंने ने कांटेदार झाड़ियों में पेट के बल रेंगकर भी, बर्फीली नदियों में तैर कर भी, हिमाच्छन्न हिमाचल की चोटियों में घूम कर भी, योगीजनों

के पास जाकर उनसे योगाभ्यास सीख, परमात्म-पद पाने का पूरा प्रयत्न किया और इसी तपोमय जीवन में ही विरक्त-मूलशंकर ने ब्रह्मचर्याश्रम से ही स्वामी पूर्णानन्द नामक एक महात्मा से संन्यास-आश्रम ग्रहण कर अपना नाम "दयानन्द सरस्वती" रक्खा। उपनिषदों के कथनानुसार दयानन्द ने इस तेज छुरे की धार पर चलकर अन्त में अपनी भीषण प्रतिज्ञा को पूर्ण किया। और परमात्म-पद को प्राप्त कर अपने को इस जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त कर दिया।

परमात्म-पद को प्राप्त करना पैने छुरे की धार है।
जो चल पड़ा इस मार्ग पर भव-सिंधु से वह पार है॥

महर्षि ने सच्चे शिव की खोज में ऋषिकेश 'टिहरी, गढ़वाल, श्रीनगर, केदारघाट, रुद्रप्रयाग, गुप्तकाशी, गौरीकुण्ड, त्रियुगीनारायण, तुंगनाथ आदि स्थानों, तथा गंगा, यमुना अलखनन्दा आदि नदियों के तट पर घूम-घूमकर योगी महात्माओं की खोज की और उनसे योगाभ्यास सीखकर अपने को कृतकृत्य किया।

तलाशे यार में जो ठोकरें खाया नहीं करते।
वे मंजिले-मकसूद को पाया नहीं करते॥

फिर वैदिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सं० १९१७ को मथुरा में प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्दजी, जो कि व्याकरण तथा वेदों के पारंगत पण्डित थे, के चरणों में जा शीश झुकाया और उनसे विद्या पढ़ना प्रारम्भ किया। ऋषि दयानन्द अपने गुरु के परम भक्त थे। वे संन्यासी होते हुए भी अपने गुरुदेव की तन, मन से सेवा किया करते। प्रतिदिन गुरुजी के स्नान के लिए यमुना के ताजा जल के घड़े प्रातःकाल तड़के ही भरकर लाते और अपने गुरुदेव को स्नान कराते। प्रतिदिन पूज्य गुरुजी की कुटिया में झाड़ू लगाते। दण्डी जी का स्वभाव कुछ तेज था, अतः कभी कभी दण्डी जी उन पर गुस्से भी हो जाते, किन्तु दयानन्द गुरु के कटु वचनों को भी अमृत के समान समझ, उन्हें शिरोधार्य कर लिया करते थे। एक वार कुटिया में झाड़ू लगाकर कूडे को बाहर फैंकना भूल गए, जब दण्डीजी कुटिया में घूम रहे थे तो

उनके चरण कोने में पड़े हुए उस कूड़े पर पड़ गए। यह जान उन्हें दयानन्द पर बहुत क्रोध आया और उनकी ताड़ना की। परम-गुरुभक्त दयानन्द बजाय इसके कि गुरुदेव के इस थोड़े से अपराध के बदले दिए दण्ड से बुरा मानते, उल्टा पास में पड़े एक बांस के दण्डे को उठाकर अपने पूज्य गुरुदेव के हाथों में दे, हाथ जोड़कर विनय करने लगे। पूज्य गुरुदेव! ब्रह्मचर्य, तप तथा योगाभ्यास के कारण आपके इस शिष्य का शरीर बहुत कठोर हो चुका है, और आपके कर-कमल अत्यन्त कोमल हैं, अतः आप जब मुझे दण्ड देते हैं, तो मुझे तो कुछ कष्ट नहीं होता, किन्तु आपके कोमल हाथ अवश्य दुःखते होंगे। अतः आप मेरी त्रुटि पर इस डण्डे का प्रयोग कर लिया कीजिए। इस प्रकार सेवा करते हुए गुरु चरणों में बैठकर उनसे अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निघण्टु, निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थ पढ़कर समाप्त कर लिए। अर्थात् जब उन्हें गुरु कृपा से वेदों के गूढ़ रहस्यों की गुरु किल्ली (चाबी) प्राप्त हो गई तो उस अखण्ड ब्रह्मचारी परमयोगी दयानन्द ने अपने पूज्य गुरुदेव से विदा लेने की आज्ञा मांगी। और गुरु के भेंट स्वरूप थोड़े से लौंग थाली में रखकर उनके चरणों में रख दिए। लौंग की भेंट दी है यह जानकर दण्डी-स्वामी विरजानन्द गद्गद् होकर, प्रेम भरे वचनों से कहने लगे। दयानन्द! मैं लौंगों का भूखा नहीं हूँ। मैं तो तुमसे गुरु दक्षिणा के रूप में कुछ और मांगना चाहता हूँ। यह सुन दयानन्द ने उत्तर दिया। गुरुदेव दयानन्द का तन, मन सर्वस्व आपके चरणों में अर्पित है। आप आज्ञा करें, मैं उसका अवश्य पालन करूँगा। गुरु ने कहा—बेटा! आज संसार में अविद्यान्धकार छा रहा है। वेदों का सूर्य, सदियों से भारतवासियों के आलस्य और प्रमाद के कारण अस्त हो चुका है। उसके अभाव में स्वार्थी लोगों ने नानाप्रकार के मत-मतान्तररूपी दीपक जला लिये हैं, जिनसे भोले-भाले भावुकजन भ्रम में फंस गए हैं। इसलिए जाओ! संसार का उपकार करो। अनाथ, विधवा तथा दीन दुःखी-जनों का उद्धार करो। संसार में फैले मिथ्या मत-मतान्तरों के दुर्ग को तर्क की तलवार से गिरा दो। और विश्व में फिर वैदिक धर्म का प्रचार करो। संसार में फिर वेदों के सच्चे स्वरूप

को दर्शाकर अविद्यान्धकार का नाश करो। पवित्र वैदिक धर्म के सूर्य को चमकाकर भ्रान्ति-पूर्ण मत-मतान्तरों की मोहमयी माया का विनाश करो। दयानन्द ने गुरु चरणों में शीश झुकाकर कहा–गुरुदेव! यह सेवक आपकी इस आज्ञा को सहर्ष स्वीकार करता है और इसे अपने प्राणार्पण से भी पूर्ण करेगा। दयानन्द अपने गुरुदेव से अन्तिम दीक्षा लेकर सं० १९२० को मथुरा नगरी से चल पड़े।

जब दयानन्द से शिष्य हों, गुरु विरजानन्द समान।
फिर क्यों न चमके विश्व में, वेदालोक महान्।।

गुरु विरजानन्द से विदा लेकर ऋषिवर दयानन्द ने अपने सदुपदेशों द्वारा स्थान स्थान पर वैदिक-नाद बजाना प्रारम्भ कर दिया। ऋषि ने भारतवर्ष भर में भ्रमण कर सत्य सनातन वैदिक धर्म का प्रचार, तथा मिथ्या मत-मतान्तरों का भ्रमजाल मिटाना प्रारंभ कर दिया। ऋषि ने आगरा, ग्वालियर, फर्रुखाबाद, कानपुर, जयपुर, पुष्कर, अजमेर, लाहौर, अमृतसर, पूना, नासिक, बम्बई, सूरत, लुधियाना, रुड़की, हरिद्वार, चाँदपुर, शाहपुरा, आदि सैकड़ों स्थानों में व्याख्यान दिए। ईसाई, मुसलमान, जैनी, पौराणिक आदि मत वादी मौलवियों, पण्डितों तथा पादरियों के साथ शास्त्रार्थ किए। हरिद्वार के कुम्भ के मेले में जा पाखण्ड-मर्दन-पताका को फहराया।

ऋषिवर की वाणी में इतना ओज था कि उनके सदुपदेश को सुनते ही लोग उनके अनुयायी बन जाते, शास्त्रार्थ करने के लिए आए हुए विधर्मी तो उनके तेजोमय मुख-मण्डल के तेज को ही देखकर घबरा जाते। कई पण्डित तो मूर्त्तियों को सन्मुख रख, यह प्रतिज्ञा करके आते कि आज मैं दयानन्द को प्रतिमा-पूजन का पुजारी बनाकर ही छोडूंगा, किन्तु अन्त में शास्त्रार्थ में दयानन्द की अलौकिक प्रतिभा तथा अगाध विद्वत्ता के सन्मुख नतमस्तक हो, उन्हीं अपनी प्रिय-प्रतिमाओं को नदी के प्रवाह में प्रवाहित कर देते। महर्षि ने पौरणिकता में गढ़ काशी में सात बार जाकर पाखण्ड मत का खण्डन, तथा सत्य सनातन वैदिक धर्म का मण्डन किया और वहाँ के विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा।

दयानन्द के प्रचार तथा विद्वत्ता की चर्चा सारे भारतवर्ष में होने लगी, जिज्ञासु-जन, धड़ाधड़ उनके अनुयायी बनने लगे। किन्तु स्वार्थी-जन उनका विरोध करने लगे। यहाँ तक कि उनकी जीवन लीला को समाप्त कर देने का पातक प्रयास करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु दयानन्द उनके दानव-कृत्यों से तनिक भी नहीं घबराये, प्रत्युत अपने वैदिक-धर्म प्रचार के कार्य को द्विगुणित उत्साह से करना प्रारम्भ कर दिया। ऋषि ईश्वर के अटल विश्वासी थे, वे हमेशा कहा करते—मैंने यह वैदिक धर्म प्रचार का महान् कार्य उस सर्वान्तर्यामी प्रभु के आश्रय पर ही प्रारम्भ किया है। अतः कोई चाहे मुझे कितना भी कष्ट दे मैं अपने इस पवित्र कार्य का कभी भी परित्याग नहीं करूँगा।

दुःख शोक से सब धीर जन, ध्रुव ध्येय को तजते नहीं।
उनको निराश न कर सकें, आपत्तियाँ भीषण कहीं।।

दयानन्द जहाँ ब्रह्मचर्य, बल, पराक्रम, धीरता और वीरता की मूर्त्ति थे, वहाँ दया के भी परम अवतार थे। वे प्राणी मात्र पर दया करते थे। वास्तव में उन्हें अपने नाम के अनुरूप दीन-दुःखियों पर दया करने में ही आनन्द आता था। अपने अनिष्ट चिन्तकों, ईंट, पत्थरों की वर्षा करनेवालों और यहाँ तक कि उन्हें विष तक देकर उनकी जीवन-लीला समाप्त कर देनेवालों पर भी उन्होंने सदा दया ही दर्शायी है। ऋषि-जीवन में ऐसी बीसियों घटनाएँ मिलती हैं, जिन्हें स्थानाभाव से हम यहाँ नहीं दे रहे।

ऋषि ने मौखिक प्रचार तथा शास्त्रार्थों के अतिरिक्त वेदभाष्य, सत्यार्थ प्रकाश, संस्कारविधि आदि अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। ऋषि ने थोड़े समय में ही इतना महान् कार्य कर दिखाया कि जिसकी कल्पना भी मनुष्य के हृदय को चकित कर देती है। वास्तव में अल्प काल में ही इतना महान् कार्य सिवाय आदित्य ब्रह्मचारी तथा पूर्ण योगी के और कोई नहीं कर सकता। ऋषि अपने इस महान् उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न ही थे कि उन्हें जोधपुर पधारने का निमन्त्रण दिया गया। अजमेर से जोधपुर प्रस्थान करते समय महाराज को उनके भक्तों ने आग्रह किया

कि आप जोधपुर मत जाएँ, वहाँ के लोग क्रूर तथा कठोर हृदय होते हैं। कहीं ऐसा न हो आपका वे लोग कुछ अनिष्ट कर दें। महाराज ने उत्तर दिया—पवित्र वैदिक-धर्म के प्रचार के लिए यदि लोग मेरी अंगुलिया काट काट कर बत्ती जलाने का भी काम क्यों न लें, तो भी मैं वहाँ जाने से न रुकूंगा। जोधपुर में पहुँचकर महर्षि ने अपनी व्याख्यान माला से जिज्ञासु—जनों के हृदयों को वेदों की अमृत वर्षा से मालामाल कर दिया। जोधपुर नरेश के अन्तःकरण में भी महाराज के उपदेशों का गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने शनैः शनैः अवगुणों तथा दुर्व्यसनों का परित्याग करना प्रारम्भ कर दिया। राजा की इस अवस्था को देखकर उसकी अत्यन्त प्रेम-पात्र नन्हीं भगतन नामक वेश्या को बहुत बुरा लगा और उसने कुछ स्वार्थी लोगों से मिलकर जगन्नाथ नामक महाराज के पाचक को प्रलोभन देकर उससे दूध में संखिया विष दिलवा दिया। जब महाराज को ज्ञात हुआ कि मुझे विष दिया गया है, तो दया और करुणा के अवतार दयानन्द ने उन्हें विष का प्याला देनेवाले जगन्नाथ को न केवल क्षमा प्रदान की प्रत्युत अपने पास से रुपये देकर उसे वहाँ से भगा दिया, जिससे कि राज कर्मचारी उसका कुछ अनिष्ट न कर सकें। वहीं से महाराज रोग ग्रस्त हो गए और जोधपुर से आबू और अजमेर आ गए। अजमेर में महाराज के भक्तों ने उनकी बहुत सेवा-शुश्रूषा तथा इलाज कराया, किन्तु महाराज का रोग बढ़ता ही गया। अन्त में कार्त्तिक कृष्णा अमावस्या सं० १९४० को दीपावली के दिन महाराज ने आनन्द में मग्न हो गायत्री का जप करते हुए, "ईश्वर तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो" यह कह कर अपनी जीवन-लीला को समाप्त कर दिया। और मृत्यु के समय में भी प्रसन्न वदन हो, स्वेच्छा से प्राणों का परित्याग कर, आनन्दकन्द दयानन्द ने गुरुदत्त जैसे कट्टर नास्तिक को भी परम आस्तिक तथा प्रभु का परम भक्त बना दिया।

प्रभुभक्त दयानन्द

लेखक तथा प्रकाशक–**श्री भद्रसेन मुमुक्षु** व्याकरणोपाध्याय गुरुकुल चित्तौड़गढ़ । *प्राप्ति स्थान*–**अधिष्ठाता गुरुकुल चित्तौड़गढ़** (मेवाड़), **श्री पं० वजीरचन्द, वैदिक पुस्तकालय,** लाहौर ।

लेखक के शब्दों में अभी तक जनसाधारण स्वा० दयानन्द को **'समाज-सुधारक'** तथा **राष्ट्र-संस्कारक** ही मानते हैं । **परम स्वामी दयानन्द** उस परम प्रभु के अनन्य भक्त थे । कारुणिक प्रभु के गुण-कर्म-स्वभाव को अपने में ढालने के लिए वे सदा सफल प्रयत्न रहे । लेखक ने ऋषि के लेख और उनकी जीवन-घटनाओं से प्रमाणित किया है कि उन के जीवन में प्रभु भक्ति ही प्रधान रही । उन के सब कार्यकलाप प्रभु की आज्ञापालन के लिए थे । लेखक की कृति प्रशंसनीय है । ऋषि एवं प्रभु के प्रत्येक अनुयायी के लिए पुस्तक पठनीय और संग्राह्य है ।

—आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री
सम्पादक–दयानन्दसन्देश
फरवरी १९४० ई०

आचार्य भद्रसेन